सम्पादकीय

चित्रकूट की धरती से प्रकाशित ज्ञान की पताका 'समानुभूति' शोध पत्रिका विश्व के अप्रतिम ज्ञानपुंज एवं सनातनधर्म के ध्वजवाहक महामहिम कुलाधिपति स्वामी रामभद्राचार्य जी की प्रेरणा का संवाहक है जिसे दार्शनिक कुलपति प्रो० बी० पाण्डेय जी द्वारा संरक्षण प्राप्त है। मा० कुलपति जी की शुभेच्छा का परिणाम रहा कि उनके आगमन के छः माह के भीतर समानुभूति अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त हो सकी। २०१० के प्रथम अंक के बाद इसे दूसरे अंक में आई०एस०एस०एन० अंक भी प्राप्त हो गये। तीसरे अंक में समानुभूति अन्तरताना (इण्टरनेट) पर भी दिखने लगी, जब इसका चौथा अंक प्रकाशित हुआ तो पत्रिका अन्ताराष्ट्रीय स्वरूप में पहुँच गयी ।

समानुभूति नित्य-निरन्तर वर्धमान हो रही है तो इसके पीछे विश्वविद्यालय के गणमान्य अधिकारियों का स्नेहिल भाव के साथ परामर्शदाता एवं सम्पादकगण का सहयोग सराहनीय है। पत्रिका की निरन्तरता के लिए हम अपने अतिथि विद्वान लेखकों के अतिरिक्त शोध पत्र लेखकों एवं चिन्तकों के प्रति आभारी हूँ, जिनका मुझे निरन्तर आर्थिक सहयोग एवं शोध पत्र विपुल मात्रा में प्राप्त हो रहे हैं। इसी का परिणाम है कि समानुभूति के इस चतुर्थ अंक में चालीस विद्वानों एवं लेखकों का अनुपम सहयोग मिला है।

निःसंदेह समानुभूति अपने अन्ताराष्ट्रीय स्वरूप को प्राप्त हो चुकी है। अब इसका विस्तार देश-देशान्तर में निरन्तर होता जा रहा है। वर्सा विश्वविद्यालय में दक्षिण एशियाई अध्ययन विभाग के प्राच्य अध्ययन संकाय के विद्वान प्रो० कैलाशनारायण तिवारी का शोध पत्र-'रीतिकालीन कविता: पुनर्मूल्यांकन की आवश्यकता' इस अंक में प्रकाशित किया गया है। इन्होंने रीतिकालीन प्रवृत्तियों एवं कवियों के साथ न्याय की माँग की है। प्रो० तिवारी का मानना है कि कवियों की सामाजिक-भावभूमि, इतिहास-दृष्टि, मानवमूल्यों का विघटन और रीतियुगीन स्त्रियों का विषाद तथा शोषण कभी ठीक ढंग से विचारणीय ही नहीं रहा। पाठकों को आभास ही नहीं हुआ कि कलात्मक-रुझान के अलावा भी रीतिकाल में बहुत कुछ है जो रीति साहित्य का एक चौथाई हिस्सा छिपा रह गया।

भारतीय तीन महापुरुषों की सार्द्धशती (डेढ़ सौवीं) वर्ष का भव्य समारोह देश-विदेश में मानये जा रहे हैं– विश्वकवि गुरु रवीन्द्रनाथ टैगोर, हिन्दू-सम्राट महामना मालवीय और विश्वकीर्तिपताका स्वामी विवेकानंद। इससे संदर्भित पं० मदनमोहन मालवीय पर आधारित 'प्रखर राष्ट्रवादी महामना' विश्वविख्यात इतिहासकार, पुरातत्त्वविद् प्रो० ठाकुर प्रसाद वर्मा का आलेख प्रकाशित किया गया है। जिसमें मालवीय जी का व्यक्तित्व राष्ट्रीवादी, शिक्षाविद्, राजपुरुष, समाजसुधारक, सत्यनिष्ठ, धर्मनिष्ठ, सम्पादक, संत, मंत्र-द्रष्टा ऋषि के रूप में प्रतिबिम्बित हुआ है। आधुनिक समय में मानवीय मूल्यों का अपकर्ष अधिक हो रहा है, इस ओर अपनी गंभीर चिंता व्यक्त करते हुए महात्मागांधी चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय चित्रकूट, सतना के प्रो० एस० आर० सिंह सेंगर ने सुसंस्कृत सामाजिक संरचना के लिए समाज में मूल्यों के संरक्षण व संवर्द्धन की आवश्यकता पर बल दिया है। जामिया मिलिया इस्लामिया, नई दिल्ली के एसोसिएट प्रोफेसर डॉ० कृष्णकुमार कौशिक

ने 'मौलाना रूमी और संत कबीर का घर' का आध्यात्मिक महत्व पर गंभीर प्रकाश प्रस्तुत किया है। इसके साथ ही हिन्दी साहित्य पर आधारित अनेक शोधपत्र प्रकाशित किये गये हैं। डॉ० मोहसिन खान (रामगढ़, महाराष्ट्र) ने डॉ० रामविलास शर्मा की साहित्यिक चिन्तनशीलता को प्रगतिवादी परिप्रेक्ष्य में मूल्यांकित किया है और उनकी आलोचना के क्षेत्र में नवीन दृष्टिकोण को स्थापित किया है। डॉ० विन्ध्यमणि त्रिपाठी ने 'प्रेमचन्द की सामाजिक संचेतना' और अम्बे कुमारी ने 'नयी कहानी आंदोलन और कमलेश्वर' शोध पत्र द्वारा कथा साहित्य पर प्रकाश डाला है जबकि काशी हिन्दू विश्वद्यिालय के अध्येता अमर बहादुर सिंह ने जैनेन्द्र के उपन्यासों में भाषा सम्बन्धी नये प्रयोगों को उपस्थापित करके उनकी कथादृष्टि और भाषा में निहित वैशिष्ट्य को जादुई आकर्षण बताया है। यहीं के 'विद्रोही' उपनाम के अध्येता विनय कुमार शुक्ल एवं रोजीबाला (चित्रकूट) विकलांग शोधछात्रों का अध्ययन 'संत रैदास के काव्य में दार्शनिकता' सार्थक प्रयास है। उज्जैन के अध्येता राजकुमार वर्मा ने अवधी लोकगीतों में क्रान्तिकारी जनचेतना को उसकी निजी पहचान के रूप में देखने की कोशिश की है।

भारतीय काव्यशास्त्र का पुरातनकाल से सर्वाधिक परिसंवाद की स्थिति विद्यामान रही है। इस दिशा में दो काव्यशास्त्रीय लेख प्रकाशित हुए हैं। 'समानुभूति' शोधपत्रिका के सम्पादक एवं नवोदित समालोचक डॉ० 'मणि' द्वारा लिखित गंभीर आलेख 'अग्निपुराण का काव्यशास्त्र' काव्यशास्त्रीय चिन्तन की परम्परा में नयी प्रतिस्थापना है। यह पुराणों में साहित्यिक, सांस्कृतिक महत्व के परिप्रेक्ष्य में मूल्यांकन की समझ पैदा करती है। इसी दृष्टिकोण से जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय की शोध-छात्रा ममता त्रिपाठी द्वारा लिखा गया 'हिन्दी साहित्य में ध्वनि की अवधारणा' शोधपत्र हिन्दी साहित्य में ध्वनिशास्त्रीय चिन्तन की अपेक्षा एवं प्रयास को रेखांकित करने का सार्थक पहल है। इसी प्रकार तीन प्रमुख दार्शनिक लेख भी प्रकाशित हुए हैं जिनमें मनोज कुमार पाण्डेय और सीमा द्विवेदी द्वारा क्रमशः 'अद्वैतवाद एवं विशिष्टाद्वैत' और 'अद्वैतवेदान्त एवं वल्लभदर्शन' का तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया गया है तो चन्दाकुमारी द्वारा भारतीय दर्शन में मायावाद के विविध स्वरूपों एवं विचारकों की दृष्टि चित्रित है। वाल्मीकीय रामायण पर वर्णनात्मक दो लेख 'रामायण युगीन वन प्रदेश' (डॉ० महेन्द्र कुमार उपाध्याय, डॉ० प्रतिमा कुमारी शुक्ला) तथा 'रामायण में वर्णित सागर' (सुशील कुमार पाण्डेय, पुष्पेन्द्र कुमार मिश्र) के अतिरिक्त 'स्मृतियों में वर्णित पर्यावरण' (आशादेवी) प्रकाशित किया गया है तो प्राचार्य डॉ० गिरीशकुमार सिंह जी द्वारा लिखित 'सामाजिक परिप्रेक्ष्य में पातञ्जलयोग का अवदान' लेख से योग का मानव जीवन में अधिक आवश्यकता पर बल दिया गया है।

मानविकी विषयों के अनेक शोधपत्र पत्रिका की गरिमा को नये आयाम प्रदान करते हैं। डॉ० मनीषा सिन्हा एवं रूपम सिन्हा के लेख द्वारा बुद्ध के जीवन चरित का साहित्य एवं कला में समन्वय स्थापित किया गया है तो डॉ० गुलाबधर के आलेख से कलाकार का व्यक्तित्व और सामाजिक व्यवहार में अन्तर्सम्बन्ध की दृष्टि मिलती है। शिक्षाशास्त्र में अपनी पहचान बनाये रखने वाले अध्येताओं ने अपनी विचारणा को शोधपत्रों में स्थापित करने का भी प्रयास किया है जिनमें आलोक कृष्ण द्विवेदी ने 'भारत में शिक्षक शिक्षा के इतिहास की विस्तृत रूपरेखा' वर्णित की है तो डॉ० रजनीश कुमार सिंह ने शिक्षक प्रशिक्षकों की कार्य संतुष्टि एवं शिक्षण प्रभावशीलता को रेखांकित किया है इसके साथ ही अध्येता राकेश कुमार शुक्ल ने वैदिक परम्परा से अधुनापर्यन्त विद्यमान ग्रामीण शिक्षा पद्धति को नये आलोक में देखने की दृष्टि दी है। सांख्यिकी, आंकड़ों, सर्वेक्षणों की सहायता से लिखित शोधपत्रों का अपना विशिष्ट स्थान है। इस दृष्टि से चौरे दम्पती- डॉ० अजय कुमार चौरे व डॉ० नीलम चौरे का 'सामान्य निर्धन वर्ग और आर्थिक सहायता; डॉ० राकेश कुमार तिवारी

का 'भारत की जनगणना-२०११ एवं विश्लेषण', डॉ० राजेश त्रिपाठी व लक्ष्मी का 'ग्रामीण महिलाओं में स्वास्थ्य जागरूकता', डॉ० दीपक कुमार सिंह का 'भारत में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश का अन्तर्प्रवाह', डॉ० विनोद शंकर सिंह का 'वैश्वीकृत युग में गाँवों का सामाजिक रूपान्तरण', कुमार प्रशान्त सिंह सेंगर का 'भूमंडलीय तापवृद्धि का पर्यालोचन' विशेष उल्लेखनीय है। वर्तमान भारतीय राजनीतिक दशा (चन्द्रशेखर सिंह) और दलितों की दशा (दलितों के मुक्तिदाता-महात्मा ज्योतिबा फुले: डॉ० सरोज गुप्त) पर प्रकाश डालने वाले शोधपत्रों से वस्तुस्थिति की जानकारी मिली है तो अंजना एवं भगवानदीन द्वारा प्रस्तुत आलेख से मौर्योत्तरकालीन श्रेणी संगठन का परिचय भी प्राप्त होता है।

त्रिभाषीय पत्रिका में आंग्लभाषा के शोध पत्रों की उपस्थिति पत्रिका में नूतन वैशिष्ट्य उत्पन्न करती है। भीमनगर के पुलिस अधीक्षक डॉ० तहसीलदार सिंह कुशल प्रशासक के साथ गंभीर विद्वान एवं पुरातत्व इतिहासविद् भी है जिन्होंने Birth place of Maharshi Vyās के द्वारा कृष्णद्वैपायन व्यास जी की जन्मभूमि बुन्देलखण्ड सिद्ध किया गया है। इतना ही नहीं, यह भी ऐतिहासिक तथ्य स्पष्ट करते हैं कि महाभारतकार का जन्म-स्थान के साथ रामायणकार वाल्मीकि एवं तुलसी की भी जन्मभूमि व आदि भूमि बुन्देलखण्ड का परिक्षेत्र ही है किन्तु दुर्भाग्य है कि साहित्यिक और सांस्कृतिक दृष्टि से उर्बर बुन्देलखण्ड राजनैतिक दृष्टि से अत्यन्त उपेक्षित है किन्तु इस दिशा में विकलांग विश्वविद्यालय से प्रकाशित इस समानुभूति पत्रिका के माध्यम से नये विलक्षण-विचक्षण अध्येताओं एवं शोधपत्रों के माध्यम से ऐसे पक्षों को उजागर किया जा रहा है।

अंग्रेजी के एकादश लेखों में दूसरे लेख साहित्यिक भी हैं जिनमें डॉ० विपिन कुमार पाण्डेय एवं डॉ० पूनम पाण्डेय द्वारा लिखित शोधपत्र में आर०के० नारायणन के उपन्यास 'मैन ईटर आफ मालगुडी' में मिथ एवं यथार्थ के प्रयोग को दिखाया गया है। वर्तमान समय में किस प्रकार मिथक तकनीकि एक लोकप्रिय एवं सफल तकनीकि हो सकती है, इसे आर०के० नारायण के उपन्यास में प्रस्तुत कर प्रमाणित किया गया है। डॉ० हृदयकान्त पाण्डेय ने 'द विमेन प्रोटागानिष्ट- इन द नावेल ऑफ मंजू कपूर' में महिलाओं के बदलते स्वरूप एवं उनके मार्ग में अवरोधों पर प्रकाश डाला गया है, साथ ही अपनी पहचान के लिए खोज की उत्कट इच्छा व्यक्त की गयी है। डॉ० विजयशंकर शर्मा ने दृष्टिबाधित छात्रों के लिए गणित की शिक्षा किस प्रकार कठिन होती है, उसकी समस्याओं के निदान की अच्छी पहल प्रस्तुत की है तो डॉ० ज्ञानेश कुमार त्रिवेदी ने Disability and Social Work में विकलांगता पर अपना अभिमत दिया है। भाषाविज्ञान सम्बन्धी शोधपत्र 'संस्कृत में ध्वनि विज्ञान की जटिलता' नामक लेख में मुकेश कुमार मिश्रा द्वारा भाषाशास्त्रीय समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है तो अर्थशास्त्रीय दृष्टि से डॉ० प्रसन्न कुमार दूबे का भी लेख स्तरीय है। सुनीता सिंह और प्रीती शर्मा के लेख सामाजिकता एवं ऐतिहासिकता पर केन्द्रित हैं तो अमित अग्निहोत्री और अनुराग अग्रहरि व दलीप कुमार का शोधपत्र कम्प्यूटर पर आधारित नयी जानकारियाँ देते हैं।

इन लेखकों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ जिनका सहयोग भविष्य में भी प्राप्त होता रहेगा। चतुर्थ अंक आपके समक्ष प्रस्तुत है और पंचम अंक (जुलाई-दिसम्बर, २०१२) की प्रकाशन-सामग्री प्राप्त हो चुकी है। पुन: पत्रिका परिवार के मार्गदर्शकों, शुभचिन्तकों के साथ सहयोगी बंधुओं के प्रति विनम्र भावाँजलि समर्पित है।

आर्या प्रसाद त्रिपाठी

विषय-सूची

***

रीतिकालीन-कविता : पुनर्मूल्यांकन की आवश्यकता

प्रो० कैलाश नारायण तिवारी*

हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखते समय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने रीतिकाल का समय १७०० वि० से १९०० वि० (सन् १६४३ से सन् १८४३ ई०) के बीच निर्धारित किया था। इस साहित्यिक-चिन्तनधारा के निर्धारण में कुछ बड़े कवि छूट गए थे और कुछ फुटकल कवियों की श्रेणी में रख दिए गए थे। इसलिए परवर्त्ती हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखकों ने पचास वर्ष और पीछे जाकर रीतिकाल का समय निर्धारित किया। इस तरह मोटे रूप में रीतिकाल का सही समय सन् १६०० से लेकर सन् १८५० के बीच तर्क संगत लगता है।

जाहिर है कि इसके अन्तर्गत केशव का समग्र साहित्य, मोहनलाल मिश्र का 'शृंगार-सागर', नरहरिदास का 'कर्णाभरण', रहीम की समग्र रचनाएँ, चिन्तामणि त्रिपाठी का 'काव्य-विवेक' से लेकर पहुकर का 'रस-रतन', सुन्दरलाल का 'सुन्दर-शृंगार', नरोत्तमदास का 'सुदामा चरित', जोधपुर के राठौर राजा पृथ्वीराज का 'बेलि-कृष्ण-रुकमिणी' जैसे मूल्यवान ग्रन्थ, जो परिपाटी से थोड़ा हटकर लिखे गए थे, आसानी से रीतिकाल में समाहित हो जाते हैं।

आचार्य शुक्ल ने सन् १६४३ को ही क्यों चुना? क्यों उन्होंने केशवदास, नरहरिदास, सुन्दरदास और नरोत्तम मिश्र को भक्ति-युग में नहीं रखा क्या इस पर पुनर्विचार करने की जरूरत है? शायद शुक्ल जी ने इनमें भक्तों जैसा समर्पण और आस्था नहीं देखी होगी। ये लोग उन्हें रीति-कवियों जैसे कवि लगे हों। भक्ति की गंगा से बाहर होकर वरुणा नदी में डुबकी लगाने वाले कवि लगे हों। इसलिए उन्होंने इन्हें शृंगार वाली कोटि में लाकर खड़ा कर दिया। तो क्या अब इन सारी बातों का फिर से आलोडन-विलोडन करने का समय आ गया है। निश्चित रूप से इन कवियों के बारे में नये सिरे से सोचने की जरूरत है।

रीतिकाल के दो सौ पचास वर्षों में शृंगारी-साहित्य की ऐसी धारा चली जिसमें भोग-विलास की सामग्री अबाध गति से बहती रही। समीक्षकों ने मान लिया कि इस साहित्य में ''नाचै गावें तोरै तान तेकर दुनिया राखै मान'' के अलावा कुछ भी नहीं है। ये बातें सत्य होते हुए भी पूर्णतः सत्य नहीं थीं। यथार्थ होते हुए भी यथार्थ से दूर थीं। रीतिकाल में शृंगार होता हुआ भी सब कुछ शृंगार ही नहीं था। बहुत कुछ उसमें ऐसा लिखा गया दृष्टिगत होता है जो शृंगार से हटकर है, स्त्रियों की भाव-भंगिमाओं से ऊपर उनकी वीणा को भी व्यक्त करता है। लेकिन यह सब मात्रा में इतना कम, इतना बिखरा हुआ और इतना छिप-छिपाकर अभिव्यक्त हुआ है कि हम उसे देख ही नहीं पाते। हमारी नजरों से वह हमेशा ही ओझल रहा है। यदि

* Faculty of Oriental Studies, Department of South-Asian Studies, KRAKOWSKIE-Przdmiscie-26/2800-972, WARSZAWA, POLAND, EUROP

कदाचित् किसी समीक्षक की भूलों पर दृष्टि भी गयी तो वह उससे कन्नी काटता हुआ ऐसा भागा जैसे किसी पागल-कुत्ते ने किसी को दौड़ा लिया हो।

इस प्रकार आलोचकीय-हठधर्मी सिद्धान्त ने रीतिकाल को कहीं का न छोड़ा। सरेआम समीक्षक-गण कहते रहे- रूप-चित्रण, अंग-प्रदर्शन, नायिका-भेद और अलंकारों का नाम गिनाने से ज्यादा इसमें क्या है? कुछ भी तो नहीं। परिणामतः इसे भोग-विलास का साहित्य मानकर इसमें छिपे हुए मानवीय सरोकारों पर भी पर्दा डाल दिया गया। ये सारे कार्य आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' के सम्पादन के समय शुरू किया था, जिसे आचार्य शुक्ल जी ने अंतिम परिणति तक पहुँचाया। अतएव इस कारण रीति साहित्य का एक चौथाई हिस्सा छिपा रह गया। कवियों की सामाजिक-भाव-भूमि, इतिहास-दृष्टि, मानव-मूल्यों का विघटन और रीतियुगीन स्त्रियों का विषाद तथा शोषण कभी ठीक ढंग से विचारणीय ही नहीं रहा। पाठकों को आभास ही नहीं हुआ कि कलात्मक-रुझान के अलावा भी रीतिकाल में बहुत कुछ है।

हिन्दी आलोचना और विश्वविद्यालयी पाठ्यक्रमों में अक्सर पुस्तकों के पाठ पर बल न देकर, उसमें अपने विचारों के पाठ पर बल न देकर, उसमें अपने विचारों और सिद्धान्तों के अनुरूप अर्थ खोजने का एक भयानक संकट दिखायी देता है। जिसकी वजह से आज का विद्यार्थी पाठ्य-पुस्तक कम पढ़ता है, उस पर लिखी गयी आलोचना ज्यादा पढ़ता है। पाठकों को यह नहीं बताया जाता कि कवि विचारधाराओं से प्रतिबद्ध होकर कविता नहीं लिखता। हिन्दी में इसकी शुरूआत छायावाद के बाद हुआ। आधुनिक साहित्य कहे जाने वाले लेखन के पहले कविताएँ अपने और सामाजिक-सरोकार को ध्यान में रखकर लिखी जाती थी। क्योंकि मान्यता रही है कि कविता से कवि स्वयं तो रस ग्रहण करता ही है, पाठक भी उसमें डूबना-उतराना चाहता है। परन्तु पाठक को कविता में आनन्द तभी मिलता है जब उसके जीवन से सम्बन्धित बातें कविता में कही गयी हों। उसके जीवन की समस्याएँ, उसके आचार-विचार, जीवन-संघर्ष को बढ़ावा देने वाले तथ्य तथा उसका अतीत उसमें झाँकता हुआ दिखायी देता हो तथा वह कविता लम्बे दिनों तक जीवित रहती है।

रीतिकाल के साहित्य में जीवन-संघर्ष मुखर रूप में अभिव्यक्त हुए हैं। गिरते हुए मूल्यों पर गहरी चिन्ता व्यक्त की गयी है। रीति-कवियों का इतिहास-बोध भी बहुत प्रखर ढंग से अभिव्यक्त हुआ है। देखिए, रीतिकाल के एक छोटे से कवि रघुनाथ हैं, जिन्होंने अन्य बड़े कवियों की अपेक्षा बहुत कम लिखा है। थोड़े से में वे कुछ ऐसी बातें कह गए हैं, जो गौर करने लायक है। उन्होंने रीतिकालीन- समय को 'कलिकाल' का नाम दिया है। 'कलि' के बारे में तुलसीदास ने भी विस्तार से लिखा है- मानस में 'कलि' शब्द का नाम सुनते ही हम समझ जाते हैं कि उसका समाज पर कैसा प्रभाव पड़ता है। 'कलि' आते ही पहले जीवन-मूल्यों को, धर्म और सत्य-निष्ठा को तथा विश्वास एवं आस्था को चोट पहुँचाता है। समाज उसके प्रभाव से आचार-विचारहीन हो जाता है। पराए तो पराए, अपने भी लोग मोह-माया के चक्कर में धोखा देते लज्जित नहीं होते। यहाँ तक कि 'कलिमहराज' के आगमन से 'गुरु-धर्म' भी 'वाणिक-धर्म' में परिवर्तित हो जाता है। पहले कविता पढ़ लें, फिर कलि-प्रताप से परिचित हो जायेंगे। बात अपने आप स्पष्ट हो जायेगी।

> अति ही कराल कलिकाल की व्यवस्था, कछु एहो कवि रघुनाथ मौ पै जात ना कही।
> देखिए विचार तो आचार रह्यो कुंभन में, गुरु-गुरुवाई बनियाई-हाट में लही।।

तेली के सनेह रह्यो नेम, गेह ब्येसन, के रही है कसेरन के गेह साँचे का सही।
नदिन में पानिय पर न वरुनि में वरुनी है, बन की दरी में करिनी का रही।।

अब आप समझ गए होंगे कि 'नदिन में पानिय तो है परन्तु करिणी के लिए उपलब्ध नहीं है।' रघुनाथ बताना चाहते हैं कि रीतिकाल हर स्तर पर मूल्यों से खीज रहा है, अध:पतन की ओर अग्रसित है। यहाँ तक कि गुरु, जिसके ऊपर समाज को दिशा देने का भार होता है, वह भी अपनी जिम्मेदारी नहीं निभा पा रहा है। यदि शिक्षक-ज्ञान का व्यापार करेगा तो समाज कहाँ जायेगा? रघुनाथ की दृष्टि में मानों पूरी रीतिकालीन-व्यवस्था ही कलि-काल की प्रतीक बन चुकी थी।

रघुनाथ की यह एक छोटी-सी कविता तत्कालीन-समाज के ऊपर कई प्रश्न चिन्ह खड़ा करती है। मुस्लिम सत्ता ने जिस तरह देशी-राजाओं से सत्ता-प्राप्ति के लिए एक दूसरे को धोखा दिए थे, भाई ने भाई का गला काटा था, वह समाज कलि का ही समाज कहा जायेगा। उसे त्रेता और द्वापर की याद तो आयेगी नहीं।

रीतिकाल एक ओर वैभव और विलास का काल था, तो दूसरी ओर अराजकता और विध्वंस का भी काल था। वैभव, विलास, सोने की असरफियाँ, भोग की वस्तुएँ सामंतों और सेठों के लिए थी, न कि सामान्य-जन के लिए। सामान्य-जन तो अभी अपने पुराने ही नीति-नियमों से चल रहा था। लेकिन अर्थ क्या जीवन में कम प्रभावशील होता है? वह जिसके पास होता है वह निष्ठुर, निर्मम और कठोर बन जाता है और जिसके पास नहीं होता वह रोटी के लिए तरसता है। वह जीवन सिर्फ मूल्यों के आधार पर जीता हैं। यही कारण है कि करुणा, दया, धर्म, सत्य आदि बातें साधारण-समाज में ज्यादा देखी जाती हैं। महलों में बैठने वाले तो इन से खिलवाङ करते हैं। परन्तु दु:ख की बात तो यह थी कि ये सारी बातें अब धीरे-धीरे रीतिकालीन साधारण-समाज से भी लुप्त होने जा रही थी। अब रीतिकाल का सामान्य आदमी भी मूल्यों के बोझ तले दबा हुआ– सा महसूस करने लगा था। क्योंकि यदि ऐसी बातें नहीं रही होती तो श्रृंगार रस का गायन करने वाले कवि के मुख से ऐसी बातें क्यों निकलती? जो हमें आज झकझोरती है, एक पल रुककर रीतिकालीन-समाज को समझने का अवसर देती हैं। देखिए, एक ऐसा ही दूसरा पद–

नाहिन है करुना जिनके डर, नाहिन नैननि लाख निसानी।
नाहिन हैं कविराज कहूँ उर दैय को प्रीति की रीति न जानी।
काठहु ते हैं कठोर हियो, कहि ये धौं कहा लगि क्रूर-कहानी।
पापी संतापी महाहठी मूरख, ऐसे के पंथ न पीजिए पानी।।

संभव हो कि सुखदेव मिश्र का यह पद उनके व्यक्तिगत-जीवन के अनुभव से जुड़ा हुआ हो। यह भी हो सकता है किसी बड़े कवि ने अथवा राजा ने उनको निराश किया हो पर यह तो सच ही है कि अब 'करुणा' और 'नैननि-लाज' का रक्षक रीतिकाल में कम होता जा रहा था। अब पापी और पुण्यात्मा में भेद करना मुश्किल होने लगा था। समाज में थोड़े नहीं, बहुत से ऐसे दिखने लगे थे, जिनके हांथ का पानी पीना भी अच्छा नहीं माना जा रहा था। यहाँ किसी के हाथ का छुआ हुआ पानी वर्ण-व्यवस्था या ऊँच-नीच के कारण नहीं, अपितु कुकर्मों के कारण नीचता और कृतघ्ना के कारण पीने योग्य नहीं समझा जाता।

सामाजिक अध:पतन की कहानी केवल पानी न पीने से सुधरने वाली नहीं थी। करुणा, दया, ममता, मोह आदि का संचार लोगों के दिल में जीवित रहे, समाज उसमें बँधा रहा, उसके लिए अतीत के संदर्भों की याद दिलाना भी जरूरी था। अतीत का ऊर्जावान वह स्रोत ही तो था जो गाढ़े-समय में भारतीयों

को जीवित रखता था। ऐसी-स्थिति में भारतीय-मनीषा को रामायण और महाभारत की यादें आती थीं। देखिए, कवि ने किस तरह न्याय और धर्म-रक्षा के प्रतीक युधिष्ठिर को याद किया है-

और तैंज टेक धरी मन माँहि न छोड़िहौं कोऊ करौ बहुतेरौ।
धाक यही है युधिष्ठिर की धन, धाम तजौ, पैन बोलन फेरौ।।

'जीवहुँ धर्म के काज' ने जैसे युधिष्ठिर को अमर बना दिया था कुछ ऐसे ही चरित्र की जरूरत रीतिकाल में महसूस होने लगी थी। महाभारत और रामायण की कथाएँ समाज पर गहरा असर डालती हैं। रीति-कवि शृंगार के पदों में रमने वाला था। नायक-नायिकाओं के सौन्दर्यावलोकन से जब समय निकालता था तो उसे सामाजिक यथार्थ का जो रूप दिखायी देता था, उससे वह दु:खी होता था, टूटता था। दर्द भुलाने के ही एवज में सही, तब वह अतीत के प्रगतिशील-कथाओं को अपने सवैये में रच देता था। उसका यही पक्ष उसे शृंगार से अलग करता है। उसके अतीत-बोध के विधाय की दृष्टि का संकेत करता है जो किसी भी रूप में उपेक्षणीय नहीं होना चाहिए।

जिस समाज में युधिष्ठिर धर्म-रक्षा, वचन-रक्षा के लिए जाने जाते थे उसी समाज में कृष्ण और सुदामा की दोस्ती, विभीषण को दिया गया राम का वचन, सुग्रीव के साथ उनकी मित्रता भी गायी जाती थी। पर दानव का रूप तो देखिए जो समाज में ऐसा पैठ बनाता जा रहा है कि न तो मित्र को मित्र रहने देता है और न ही ईमानदार को ईमान का रखवाला-

संपति में रहै संग, अंग बने रहैं नीके, रंग-रंग छलबै न, बोलै हरषाने को।
मित्र का टुपट्टा ऐक खरचि दुशाला चहैं, कर्ज देन देइ न रूप हैं बहाने को।
ग्वाल कवि कहैं खोटे काम में फँसाई देइ पाई-पाई पर खैंचें दाम साथी सिर्फ खाने को
धर्म को न मानैं परपीर को न पहिचानैं ऐसे मित्र बहुत बेपीर भा जमाने को।।

कविता की एक-एक पंक्तियों पर ध्यान दें तो स्पष्ट होता है कि जब तक मित्र के पास धन-दौलत है तभी तक मित्रता बनी रहती है। एक ठग-मित्र तब तक अपने मित्र की भाषा बोलता है उसके हाँ में हाँ मिलाता है जब तक उसे धन मिलता है। पर ज्यों ही मित्र की ओर से धन-प्राप्ति की कमी हो जाती है त्यों ही मित्रता ताक पर रख दी जाती है। जबकि भारतीय-परम्परा में हम देखें तो सच्चे मित्र की परिभाषा बताते हुए आचार्य भर्तृहरि ने नीतिशतक में एक श्लोक संस्कृत के कहा है कि सच्चा मित्र वही है जो अपने मित्र को पाप-कर्म करने से दूर रखता है। उसके हित की बात सोचता है, छिपाने वाली बातों को छिपाकर उसका गुण प्रकट करता है, आपत्तिकाल में सर्वस्व-न्यौछावर करने के लिए तैयार रहता है।" जाहिर है मित्रता की यह पहचान आज की ही भाँति रीतिकाल में भी ओझल होने लगी थी। विश्वास का संकट पैदा हो चुका था। और यह संकट पूरे समाज के लिए घातक था, परम्परा पर तमाचा था। रीति-कवि ने यदि इस तरह के सामाजिक-अध:पतन की ओर ध्यान दिलाया है तो हमें उसका स्वागत करना चाहिए न कि उन्हें रस का व्याख्याता समझ उस ओर ध्यान ही न दें।

रीति-कविता में ऐसे अनेक पद हैं, जो हमें आज के भी परिवेश में प्रासंगिक लगते हैं, अर्थवान शाबित होते हैं। वे पद चाहे मूल्यों के अध:पतन से सम्बन्धित हों या फिर मूल्यों की स्थापना की गरज से। वे पद हमारे मन को टीसते हैं, सालते हैं। इस रूप में कि रीतिकालीन-समाज अब उसकी रक्षा करने में असमर्थ दिखता है।

रीति-साहित्य के अथाह-समुद्र में कभी-कभी फुटकल कवित्त के ऐसे अश्रु-बिन्दु शामिल होते

हुए दिखायी देते हैं, जिन्हें हम कवि के सामाजिक-सरोकार का हिस्सा कह सकते हैं। उस काल का रचनाकार नि:सन्देह रसग्रन्थों में इतना उलझा हुआ था, मानों उसके मस्तिष्क में संस्कृत-काव्यशास्त्रियों का 'काव्यात्मा' और 'काव्य-प्रयोजन' वाली बातों से भी ज्यादा कुछ लिख देने की कामना दिखायी देती है। हालांकि इस क्षेत्र में वे 'नया' नहीं कर सके। मम्मट का काव्य-प्रयोजन तक ही सीमित रहे। उसमें अपनी ओर से कुछ न जोड़ सके। इस विषय पर शोध-कार्य करने वालों ने बताया है कि रीति-कवियों द्वारा लक्ष्य और लक्षण की विधा, अभिधा, लक्षण और व्यञ्जना की विचारणा किसी भी तरह संस्कृत-काव्यशास्त्रियों से उत्तम नहीं कही जा सकती। फिर भी इस क्षेत्र में उन्होंने नयापन देने की कोशिश अवश्य किया जो हमारे लिए इसलिए मूल्यवान है कि आज तो उस ओर से लोग मुँह चुराते हैं। बीसियों-पेज की लम्बी-चौड़ी लिखी कविता में प्राय: समझ ही नहीं आता कि कवि-महोदय ने आखिर कहा क्या? सभी प्रसाद और निराला बनना चाहते हैं। परन्तु कविता क्या है? शुक्ल जी का लेख कोई नहीं पढ़ता। रस किस तरह साहित्य में रच-बसकर पाठक के मन में समा जाता है आज का कवि जानता ही नहीं। ऊपर से तुर्रा यह कि उसकी कविताएँ पढ़ी नहीं जाती।

देखिए, कलि के प्रभाव का रोना रोने वाले रघुनाथ ही नहीं थे। बोधा को भी कलि ने परेशान कर रखा था। बोधा रीतिकाल के स्वछन्द-कविधारा के बड़े कवि थे। इन्होंने प्रेम की ऐसी कविताएँ लिखा है कि पढ़ते ही घनानन्द की याद आती है और सूर के गोपियों की भी। बेचारे प्रेम करने का दंड भी सहे थे। राज-दरबार से बेइज्जत करके इन्हें भगा दिया गया था। फिर भी प्रेमी बने रहे। प्रेम का झण्डा बुलन्द करते रहे। जरा उनकी वाणी देखिए–

कोऊ न सहाय कलिकाल में, दुखी को आय कासों कहाँ जाँय, भारी बिरह-कलेस को।
देखें राजाराम दयाहीन सब, ठौर जाय गिनती कहाँ लौं कहूँ देश हूँ विदेश को।।
बोधा कवि ध्यान धाम धाम परिपाक भरम गँवाय कीन्हों करम अदेस को।
काहू को जैहों जैहौं आदर न पैहौं, गाते चरन गै रैहो मैं सरन-महेस को।।

लगता है बोधा ने यह कवित्त तब लिखा था, जब उन्हें राज-दरबार से निकाल दिया गया था। दर-दर भटकते थे आश्रय के खोज में परन्तु कोई उनकी सहायता करने को तैयार नहीं हुआ। किसी में कृपा करने की हिम्मत नहीं थी। एक दरबार से दूसरे दरबार आश्रय की भीख माँगते रहे, पर क्या मजाल कि कोई उनकी मदद करे। निराश और हताश मन में कलि का रूप जागृत हो उठा। मन-स्थिर न होने से विचलित हो उठे। सो कहना चाहिए कि रीतिकाल में कुछ बड़े कवियों को छोड़कर मसलन-बिहारी, केशव, देव, पद्माकर के अलावा बहुतों को पेट पालने के लिए बेलन का सहारा लेना पड़ा था। उनके जीवन में झाँकने से आभास होता है कि रीतिकाल का सामंती-समाज धोखे-कवियों की कड़ी परीक्षा लेता था। परीक्षा थी कवियों के आत्म-समर्पण की सामंतों के मतानुसार कविता लिखने की, उनकी चापलूसी करने की। जो कवि ऐसा करने में सफल हो जाता था, उसे तो धन-दौलत की परवाह नहीं रहती थी। पर जो सफल नहीं होता था उसे नाना प्रकार की विघ्न-बाधाओं का सामना करना पड़ता था। देखिए इस कटु-यथार्थ पर वृन्द का चुटीला दोहा– जाय दरिद कवि-जनन को, सेयों राज-समाज।
सिंह तृप्ति जब होत हैं, हाथ चढ़ै गजराज।।

और जब सिंह को गजराज की प्राप्ति हो जाती थी, सब कुछ ठीक चलने लगता था। कवि लोग झूठी-प्रशंसा के पुल बनाने में लीन हो जाते थे क्योंकि परमानेन्ट-अपाइमेंट नहीं हुआ था। अभी तो सरकार के ही कृपा पर जीवन जीना था। लिहाजा जो कविताएँ लिखी जाती थी वह इतनी फड़कदार इतनी

जोशीली होती थी कि आश्रयदाता के समझ भला कौन टिक सकता था? उदाहरण के लिए देखिए चन्द्रशेखर वाजपेयी का एक छन्द–

परयो सोर चहुँओर घोर, सब विकल–नारि–नर। उठी धूरि–धारा अपार, नभ भूमि छार भर।।
भारतेन्दु छवि–अंधकार, छायो दिसान–दस। सोर तोर चहुँओर जोर, कहि सकै कौन कस।।

इतिहास साक्षी है कि हम्मीर जैसे सैकड़ों ऐसे हिन्दू–राजा थे, जो खोए हुए राज्य को पुनः प्राप्ति करने के लिऐ लगातार संघर्षशील थे। यह बात अलग है कि कवि ने उनके संघर्ष–शीलता को बढ़ा–चढ़ाकर लिखा, उन्हें एक ऐसे योद्धा के रूप में सामने रखा मानों उनके समक्ष शत्रु का कुछ अता–पता ही नहीं चलता था। पर देखने की बात तो यह है कि कवि इतिहास के चुनौती को अपनी कविता में स्थान दिया। घोर शृंगारिक–वातावरण से बाहर आकर उन्होंने कम ही सही, कम से कम शृंगारेतर तथ्यों पर विचार तो किया। क्या ऐसी कविताओं को हम न पढ़ें व रीतिकाल को महज शृंगार–काल समझकर उसकी उपेक्षा करें? मैं समझता हूँ कि अब इक्कीसवीं शताब्दी में रीति–कालीन साहित्य पर नए सिरे से विचार करना चाहिए।

एक जमाना था जब साहित्य को अपने–अपने कसौटियों पर कसा जाता था। कोई समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण का समर्थक बन साहित्य से समाज के रिस्ते की तलाश करता था, तो कोई मनोविज्ञान की कसौटी पर नायक–नायिकाओं का मूल्यांकन करता था। कोई भावना की आलोचकीय दृष्टि से साहित्य में रस की तलाश करता था तो कोई कवियों में इतिहास–दृष्टि न होने से परेशान था। सभी कि अपनी–अपनी भावनाएँ और सिद्धान्त थे। जिस पर रीतिकाल का मूल्यांकन किया गया था। किसी को इस बात की सुधि नहीं थी कि केशव, बिहारी, मतिराम और देव के अलावा लाल, सूदन, भूषण, आलम, प्रेमी, मदनायक, जमाल, रसखान और पुहुकर जैसे भी कवि रीतिकाल में थे, जिन्होंने नायक–नायिका का विभाजन के अलावा भी कविता लिखा है। इनमें भक्ति और इतिहास की सुगबुगाहट कुछ इस तरह से अभिव्यक्ति हुई है कि एक बार तो हमें अचानक ऐसा प्रतीत होता है कि यह कवित्त रीतिकवि का है या भक्तकवि का। एक उदाहरण देखिए–

ऊधो तुम यह मरम न जानो।
हम में श्याम, श्याम मध हम हाँ, तुम जनिअनत बखानो।
मसि में अंक, अंक मसि महियाँ, दुविधा कियो पमानो।
जल में लहर, लहर जल माँही, कँह विधि विरहा ठानो।
सिलिबो जाय जोग कुब्जा किह, जाप ताप अरु ध्यानो।
हम संग जोग भोग कछु नांही, बूँद समुंद समानो।।

यह पद बिलग्राम निवासी प्रेमी के 'प्रेम–प्रकाश' से उद्धृत किया गया है। जाहिर है उसकी तुलना सूर के पदों से आसानी से की जा सकती है सो इस तरह के तकरीबन एक चौथाई ऐसे पद रीति–साहित्य में मिलते हैं, जो शृंगार से हटकर लिखे गऐ हैं। जिनकी–सामाजिक–चेतना और इतिहास की दृष्टि से प्रासंगिकता आज भी हमें प्रेरणा दे सकती है। अतः रीतिकाल को कम से कम २१वीं शताब्दी में नए सिरे से देखने, समझने की जरूरत है।

***

प्रखर राष्ट्रवादी महामना

प्रो० ठाकुर प्रसाद वर्मा*

पं० मदन मोहन मालवीयजी के नाम के साथ 'महामना' शब्द उसी प्रकार चिपक गया है जैसे गांधी जी के साथ 'महात्मा' अथवा सावरकरजी के साथ 'वीर'। कमाल यह है कि 'महात्मा' और 'वीर' शब्द कुछ अन्य महापुरुषों के नाम के साथ भी जुड़े हुये मिल जायेंगे। लेकिन 'महामना' किसी और नाम के साथ जुड़ा हो यह मैं स्मरण नहीं कर पा रहा हूँ। इसे महामना के नाम का प्रभाव ही माना जाना चाहिए जहाँ पञ्च-मकार भी सात्विकता का बाना धारण कर लेते हैं।

मालवीयजी कहने पर (पूरा नाम लेने की आवश्यकता नहीं) जिस व्यक्ति का चित्र मानस-पटल पर उभरता है उसके नाम से कितने और किस-किस प्रकार के संस्थान, मुहल्ले या सड़कें आदि इस देश में बन गये हैं इसकी कोई गणना नहीं की गई है, लेकिन अपने जीवनकाल में उन्होंने जिन-जिन संस्थाओं की स्थापना की थी। उनमें से अनेक आज विश्वविख्यात हो चुकी हैं तथा उनके विषय में इतना कहा गया है और इतना कहा जा रहा है कि और कागज काले करने में रुचि ही नहीं उत्पन्न होती। इसके बावजूद बहुत-सी संस्थाओं के बारे में लोगों को बहुत कम जानकारी है और इस विषय में हम आगे लिखेंगे। इसके अतिरिक्त बहुत से उपनिषदीय वाक्य तथा श्लोक उनके नाम से जुड़ गए हैं जैसे 'सत्यमेव जयते' अथवा 'न त्वहंकामये राज्यं' वाला श्लोक बहुत से लोगों को बरबस उनकी ही याद दिला जाते हैं। ऐसे महामना मालवीयजी का स्मरणमात्र एक पुण्यकार्य है। उनके विषय में लिखना तो नितान्त दुरूह है।

महामनाजी के व्यक्तिगत गुणों की चर्चा करते समय लोगों ने उन्हें महान शिक्षाविद्, राजपुरुष (राजनीतिज्ञ शब्द आज इतना बदनाम हो चुका है कि उनके लिये उच्चारण करने की हिम्मत नहीं होती), समाज सुधारक, सत्यनिष्ठ, धर्मनिष्ठ, सम्पादक, सन्त, मंत्र-दृष्टा, ऋषि आदि कहा है जिसमें और भी अनेक जोड़े जा सकते हैं लेकिन फिर भी गुण-गान पूरा नहीं होगा।

उनका जन्म २५ दिसम्बर, १८६१ ई० में इलाहाबाद में हुआ था यह सबको याद है इस प्रकार गत वर्ष सन् २०११ ई० की इस तारीख को उनका १५१वाँ जन्मदिन पड़ा था। लेकिन भारतीय पंचांग के अनुसार यह तिथि पौष कृष्ण अष्टमी १९१८ विक्रमी को पड़ रही है जो वर्ष (विक्रम संवत् २०६८ में) ई० सन् २०११ के अनुसार १८ दिसम्बर को पड़ रही है। उल्लेखनीय है कि हमारी परम्परा पौष कृष्ण अष्टमी को ही रुक्मिणी-अष्टमी तथा श्रीहनुमानाष्टमी भी मनाती है। अत: यह उचित ही है इस महापुरुष के जीवन के १५० वर्ष पूरे हो जाने तथा १५१वें जन्म दिन के उपलक्ष्य में हम उनका स्मरण कर लें। महापुरुषों का जन्म दिवस हम इसलिए नहीं मनाते कि इससे उन स्वर्गस्थ आत्मा को कोई लाभ होता है। वास्तव में यह हमारा स्वार्थ ही है कि हम उनका पुण्य स्मरण करके अपने को तथा अपने समाज को सही रास्ते पर ले जाने की प्रेरणा प्राप्त करते रहते हैं। यह एक लगातार चलते रहने वाला प्रक्रम है। अस्तु!

---

* प्रख्यात इतिहासकार, पुरातत्त्वविद् ३९७ अ, गंगा प्रदूषण नियंत्रण मार्ग, भगवानपुर, वाराणसी-०५

वे हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रबल समर्थक होने के साथ-साथ प्रखर राष्ट्रवादी थे। इस लेख के शीर्षक में उनको राष्ट्रवादी ही कहा गया है। पहले यह इच्छा हो रही थी कि 'हिन्दू' शब्द जोड़ दिया जाय लेकिन कुछ बातों को सोच कर ऐसा नहीं किया क्योंकि इस देश 'इण्डिया दैट इज भारत' में राष्ट्रवादी केवल हिन्दू ही होता है। अधकचरी धर्मनिरपेक्षता के चक्कर में पिछले पैंसठ वर्षों से हम राष्ट्र की पहचान तक नहीं कर पाये हैं न तो राष्ट्रीयता को परिभाषित कर सके हैं। मुख्य कारण यह है कि 'तुष्टीकरण' की आँच में सत्ता की खिचड़ी पकाते और खाते चले आ रहे हैं, साथ में राष्ट्रहित की बलि भी देने और विघटन की खाई को चौड़ी करने में दिन-रात लगे हुए हैं। किसी भी हिन्दू की भाँति, जिनमें महात्मा गाँधीजी भी शामिल थे, मालवीयजी भी हिन्दू-मुस्लिम एकता के पक्के समर्थक थे यह उनके कार्यों से स्पष्ट है। हिन्दू-मुस्लिम एकता पर उनकी अपीलों को देखने पर लगता है कि वे इसे हृदय से चाहते थे यह मानते थे कि देश की भलाई इसी में है कि हिन्दू-मुसलमान मिलकर रहें। लेकिन वे इस पर इतने मुग्ध भी नहीं थे कि राष्ट्रहित को ताक पर रखकर इसकी पुष्टि करते फिरें। वे तुष्टीकरण की प्रवृत्ति से आहत थे और इसमें देश का अहित देखते थे। आज तुष्टीकरण की राजनीति अपनी पराकाष्ठा पर दिखाई दे रही है लेकिन अब से एक सौ वर्ष पहले ही उन्होंने इसके खतरों को भाँप लिखा था और गाँधीजी को सचेत किया था। १९१६ ई० के लखनऊ समझौते में मुसलमानों को अलग वोट के अधिकार के वे विरोधी थे। इसी प्रकार कांग्रेस द्वारा खिलाफत आन्दोलन में भाग लेने के भी विरोधी थे। उन्होंने गाँधीजी को यह स्पष्ट बता दिया था कि इससे देश के विभाजन का खतरा है। लेकिन कांग्रेस का एक वर्ग इसको न समझ पाने के कारण तुष्टीकरण के समर्थन में खड़ा रहा जिसका प्रतिफल अविभाजित भारत की सारी जनता पिछले चौंसठ वर्षों से भोग रही है। उसे तीन बार युद्ध की विभीषिका को झेलना पड़ा और अभी तक शान्ति के लक्षण नहीं दिखाई पड़ रहे हैं क्योंकि भारत-विभाजन की नीव ही नफरत और विद्वेष के आधार पर रखी गई थी।

महामना मालवीयजी ने यद्यपि अपने जीवन-वृत्ति की शुरुआत अध्यापन कार्य से की और फिर समाचार-पत्र सम्पादन के क्षेत्र में आये। लेकिन बाद में कानून की पढ़ाई करके वकालत करने लगे, पहले जिला अदालत में फिर उच्च-न्यायालय में। वे बहुत ही अच्छे वक्ता थे। कुछ ही दिनों में उनकी वकालत चल निकली। यहाँ भी उन्होंने अपनी ईमानदारी, निष्पक्षता तथा सत्य के प्रति समर्पण के कारण बार में प्रतिमान स्थापित किया। शीघ्र ही उन्हें लगने लगा कि यह उनके देशकार्य में बाधक सिद्ध हो रहा है। अत: १९११ में पचास वर्ष की वय में उन्होंने वकालत छोड़ देने का निर्णय लिया। लेकिन १९२२ ईस्वी में जब चौरी-चौरा काण्ड हुआ और १७७ व्यक्तियों पर मुकदमा कायम किया गया तो उन्होंने इनका मुकदमा लड़ने का फैसला किया। कहते हैं कि बचाव पक्ष में उनकी बहस इतनी प्रभावशाली एवं जानदार थी कि जज ग्रिमाउड मायर्स बहुत प्रभावित हुए और तीन विभिन्न अवसरों न्यायपीठ से खड़े होकर मालवीयजी का अभिनन्दन किया। परिणाम यह हुआ कि १५६ अभियुक्त छोड़ दिए गये।

इसके पहले १८८६ के कलकत्ता के कांग्रेस अधिवेशन में उन्होंने भाग लिया। उस समय उनकी आयु २५ वर्ष की थी। उसमें उनको बोलने का अवसर मिला। वहाँ पर उनका भाषण इतना तर्कपूर्ण और प्रभावशाली रहा कि कांग्रेस के संस्थापक तथा जनरल सेक्रेटरी ए०ओ० ह्यूम तक को अपनी रिपोर्ट में उनका उल्लेख करना पड़ा। अधिवेशन के सभापति दादाभाई नौरोजी भी बहुत प्रभावित हुये थे। इलाहाबाद के समीप कालाकाँकर के राजा रामपाल सिंह भी बहुत प्रभावित हुए और मालवीयजी को हिन्दुस्तान टाइम

पत्र के सम्पादन के लिए आमन्त्रित किया। अगले वर्ष १८८७ ई० का कांग्रेस अधिवेशन उन्होंने इलाहाबाद में आयोजित किया जो उनकी संगठन कुशलता तथा प्रवीण संयोजकता के कारण बहुत ही सफल रहा। इसके बाद तो महामना कांग्रेस के अधिवेशनों में लगभग प्रति वर्ष भाग लेते रहे। वे १९०९, १९१८, १९३२ तथा १९३३ में चार बार कांग्रेस के सभापति चुने गये लेकिन अन्तिम दो अधिवेशनों में वे सभापतित्व नहीं कर सके थे क्योंकि ब्रिटिश सरकार ने उन्हें गिरफ्तार करके जेल में डाल दिया था।

पत्रकारिता के क्षेत्र में महामना मालवीयजी ने बहुत काम किया। प्रारम्भ में वे साप्ताहिक अंग्रेजी पत्र हिन्दुस्तान टाइम्स से जुड़े। उन्होंने १९२४ से १९४० तक 'हिन्दुस्तान टाइम्स' के चेयरमैन का पद सुशोभित किया और उनके ही प्रयासों से १९३६ से उसका हिन्दी संस्करण भी निकलने लगा। अंग्रेजी दैनिक 'इन्डियन ओपीनियन' के चीफ एडीटर के रूप भी काम किया। अंग्रेजी दैनिक 'लीडर' के संस्थापक सम्पादक तो थे ही वे हिन्दी साप्ताहिक 'अभ्युदय' तथा 'सनातन धर्म' एवं हिन्दी पाक्षिक 'मर्यादा' के भी संस्थापक सम्पादक रहे। वे बचपन में कविताएँ लिखा करते थे और शायद बहुत कम लोग जानते हैं कि उस समय उनका उपनाम 'मकरन्द' हुआ करता था।

पं० मदन मोहन मालवीयजी ने हिन्दी के लिये युवावस्था से ही बहुत काम किया क्योंकि उनका मानना था कि अपनी भाषा के माध्यम से ही देश और संस्कृति का अभ्युदय सम्भव है। १८८४ में (२३ वर्ष की अवस्था) उन्होंने 'हिन्दी उद्धारिणी प्रतिनिधि सभा' की स्थापना की थी। आगे चलकर १८९३ में बनारस में 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' की भी स्थापना की। इलाहाबाद में 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' की स्थापना में भी उनका योगदान था। उनके अथक प्रयासों के कारण देश की अदालतों में देवनागरी लिपि को मान्यता मिली तथा देश में चलने वाली प्रतियोगितात्मक परीक्षाओं में हिन्दी को स्वीकृत कराने में उनका योगदान कभी भुलाया नहीं जा सकता। इसके अतिरिक्त मालवीयजी ने काशी में ही एक ''अखिल भारतीय विक्रम परिषद्'' की स्थापना करवाई थी जिसका उद्देश्य संस्कृत के ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद करना था।

मालवीयजी ने काशी में गंगा नदी के तट पर हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना करवाई थी। हमने सुना है कि वे इस विचार से अत्यधिक रोमांचित थे कि दस हजार विद्यार्थी एक कुलपति की अध्यक्षता में गंगा में डुबकी लगायेंगे तो कैसा लगेगा? शायद उनका यह स्वप्न तो साकार नहीं हो सका लेकिन इस विश्वविद्यालय में प्राच्य धर्मशास्त्रों एवं दर्शन के साथ आधुनिकतम प्रोद्यौगिकी एवं विज्ञान की शिक्षा एक ही परिसर के अन्दर दी जा रही हैं, यह विश्वविद्यालय जहाँ एक ओर प्राचीन नालन्दा तथा तक्षशिला आदि विश्वविद्यालयों की परम्परा में खड़ा है तो दूसरी ओर संसार की अधुनातन ज्ञान–विज्ञान की प्रगति से भारत के छात्रों को साक्षात्कार करवा रहा है। अब तो बरकछा में एक और परिसर के जुड़ जाने से इसका और विस्तार हो गया है।

गंगा की बात चली है तो हम सब जानते हैं कि इक्कीसवीं शताब्दी में इसके प्रदूषित हो जाने की समस्या बड़ी शिद्दत के साथ अनुभव की जा रही है। सभी लोग चिन्तित हैं, लेकिन मालवीय जी ने यह लड़ाई १९१६ ई० में लड़ी थी और जीती थी। ब्रिटिश सरकार ने १९१४ ई० में गंगा नदी की धारा को हरिद्वार में हरि की पैडी से मोड़ कर भीमगोंडा नहर बनाने की योजना तैयार की। इसने समाज–सेवियों की नींद उड़ा दी। मालवीयजी के नेतृत्व में एक आन्दोलन चला जिसने १९१६ ई० में ब्रिटिश सरकार को

अपनी योजना वापस लेने के लिये बाध्य कर दिया। उस समय कहा गया कि अब गंगा की धारा से खिलवाड़ नहीं किया जा सकेगा। लेकिन आज जो हो रहा है उससे हम सभी परिचित हैं।

मालवीयजी की इस शक्ति के पीछे उनका आभामण्डल तो काम करता ही था साथ ही वे जनसामान्य में भी अत्यधिक लोकप्रिय थे। अपने राजनीतिक जीवन के काफी बड़े भाग तक वे प्रान्तीय एवं केन्द्रीयधारा सभाओं में सदस्य के रूप में कार्यरत रहे। इस दौरान वे सार्वजनिक जीवन को प्रभावित करने वाली समस्याओं पर अवश्य बोलते थे तथा अपनी तर्कशक्ति तथा वक्तृता से मोह लेते थे। उन्होंने रौलट बिल, पंजाब मार्शल ला बिल, टैरिफ बिल तथा इन्डेम्निटी बिल जैसे काले कानूनों का जमकर विरोध किया था। एक कट्टर धार्मिक परिवेश से आने के बावजूद मालवीयजी ने १९३१ ई० में राउन्ड टेबल कान्फेरेन्स में भाग लेने के लिये समुद्र यात्रा की और गाँधीजी के साथ इंग्लैण्ड गये।

कांग्रेसी होने के बावजूद मालवीयजी की छवि एक हिन्दू नेता की है। वे हिन्दुओं पर होने वाले अत्याचारों से क्षुब्ध थे। केरल के मोपला दंगों में नि:शस्त्र हिन्दुओं की बड़ी संख्या में मारे जाने की घटना ने उनको अन्दर से हिला कर रख दिया था। विघटित हिन्दू समाज को एक राजनीतिक मंच देने के लिए उन्होंने लाला लाजपत राय तथा स्वामी श्रद्धानन्दजी के साथ मिलकर प्रयास किए जिसके फलस्वरूप 'अखिल भारतीय हिन्दू महासभा' अस्तित्व में आई। वे गोरक्षा आन्दोलन से भी सम्बद्ध थे। उन्होंने न केवल गोहत्या के विरुद्ध आवाज उठाई वरन् सारे देश में गोशालाओं की स्थापना में योगदान किया। १९२८ में सनातन धर्म महात्मा में गोरक्षा से सम्बन्धित प्रस्ताव पास करवाये। कहना नहीं होगा कि मालवीयजी ने आजीवन हिन्दू समाज की चिन्ता की तथा उनका मरण भी हिन्दू समाज की चिन्ता में ही हुआ। १९४६ ई० में नोवाखाली के दंगों में हिन्दुओं पर किये जाने वाले अत्याचारों के समाचार उनके बीमार कानों में पड़ते रहते थे और उसी चिन्ता में उनके प्राण छूट गये।

मालवीयजी का व्यक्तित्व अत्यन्त मोहक था। यह उनके चित्रों को देखने से लग जाता है कि लेकिन उनका व्यवहार, सभी के प्रति, इतना सरल और निष्कपट था कि पहली भेंट में ही लोग उनको अपना अंतरंग मान बैठते थे। छात्र हों, अध्यापक हों, राजनेता या राजा-महाराजा अथवा जमींदार सभी को समान रूप से मोहित कर लेते थे। जिस किसी राजा या महाराजा के पास वे विश्वविद्यालय के लिये सहायता माँगने पहुँचाते वह दान देने में अपनी क्षमता की पराकाष्ठा का प्रदर्शन करने से नहीं चूकता था। आज काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की जितनी छोटी-बड़ी जायदादें हैं वह मालवीयजी के सम्मोहक भिक्षु होने की साक्षी हैं। वे नवम्बर, १९१९ ई० से सितम्बर १९३९ ई० तक काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के कुलपति रहे।

राष्ट्र के लिये जीने और मरनेवाले इस अप्रतिम राष्ट्रप्रेमी को हमारा विनम्र शतश: प्रणाम एवं श्रद्धाञ्जलि।

***

सुसंस्कृत सामाजिक संरचना के मूल्य

प्रो० एस०आर० सिंह सेंगर*

संस्कृति जब निश्चित आकार लेकर कठोर हो जाती है तो सभ्यता बन जाती है। सभ्यता बाहर से ग्रहण करने की क्षमता खो देती है तथा कठोरता के कारण विनष्ट हो जाती है। संस्कृति में लोच व ग्राह्यता के कारण सातत्य का गुण होता है, जो उसे प्रवहमान बनाता है। सभ्यता मानव विकास की कहानी है। संस्कृति मानव जीवन की अर्थपूर्णता की व्याख्या है तथा मानव के भौतिक एवं आध्यात्मिक विकास के चैतन्य स्वरूप का प्रतिनिधित्व करती है। संस्कृति मानव के विचार व व्यवहार को परिष्कृत करती है।

सुसंस्कृत समाज संरचना के मूल्य

सामाजिक चेतना-सम्पन्न मनीषियों ने सुसंस्कृत समाज रचना के लिये जिन मूल्यों का निर्धारण किया है वे सभी सामाजिक समूहों के लिये प्रासंगिक हैं। समाज में जब इन मूल्यों का क्षरण होता है तो सामाजिक सद्भाव खंडित होता है। व्यक्ति स्वार्थी, भोगवादी व स्वकेन्द्रित होकर सामाजिक चेतना को खो देता है। सामाजिक समरसता घटती है तथा समाज का अमन-चैन विनष्ट होता है। विकास प्रक्रिया अवरुद्ध होती है। अतः सुसंस्कृत सामाजिक संरचना के लिये समाज में अग्रांकित मूल्यों का संरक्षण व संवर्धन आवश्यक है।

सहअस्तित्व

परस्पर विरोधी तत्वों का समन्वय के साथ अस्तित्व में रहना ही सहअस्तित्व है। आस-पास की प्राकृतिक संरचना व मानव समाज में विद्यमान परस्पर विरोधी अनेक तत्व सृष्टि के संतुलन व विकास में सकारात्मक भूमिका का निर्वाह करते हैं। समाज में भौतिकवादी व आदर्शवादी परस्पर विरोधी विचारधाराएँ गंगा-यमुना की भाँति समानान्तर प्रवहमान रही हैं। भौतिकवादी विचारों से समाज का भौतिक विकास हुआ तथा आदर्शवादी विचारों ने जीवन व जगत की सारस्वतता, यथार्थता, उद्देश्यपूर्णता व उत्कृष्टता की व्याख्या की। हमारे आस-पास की प्राकृतिक संरचना में विद्यमान तमाम परस्पर विरोधी तत्व हमें सहअस्तित्व के साथ रहने की प्रेरणा देते हैं। अनन्त आकाश में उड़ता एक पक्षी दूसरे पक्षी से उसका आकाश नहीं छीनता। एक वृक्ष दूसरे वृक्ष के फलों को नहीं चुराता। फुलवाड़ी में खिला हुआ एक पुष्प दूसरे पुष्प की सुगंधि को नहीं छीनता। सौर-मंडल के ग्रह अनन्त काल से सहअस्तित्व के साथ सहसंतुलन बनाये हुये हैं। इनके मध्य उत्पन्न होने वाला छोटा-सा असंतुलन महाविनाश का कारण बन सकता है। अनेक सांस्कृतिक समूहों में विभक्त मानव-समाज को सहसंतुलन के साथ सहअस्तित्व बनाये रखने की प्रेरणा अपने आस-पास की प्रकृति से लेनी चाहिये।

सहिष्णुता

सहिष्णुता व्यक्ति का वह गुण है, जो उसे दूसरों के प्रति संवेदनशील बनाता है तथा चिंतन की

* अधिष्ठाता, कला संकाय, महात्मा गाँधी चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय चित्रकूट, सतना, मध्यप्रदेश

संकीर्णता को समाप्त कर पूर्वाग्रहों से मुक्त करता है। सहिष्णुता से व्यक्ति में उदारता, सहनशीलता, सहयोग व आत्मसात करने की क्षमताओं का विकास होता है। सहिष्णुता भारतीय संस्कृति का विशिष्ट गुण है। इसी गुण के कारण भारतीय समाज ने हूण, कुषाण, मुगल और अंग्रेज आदि बाहरी सांस्कृतिक समूहों को अपने में समाहित किया। कुछ को ऐसा आत्मसात किया कि उनकी मूल पहचान ही विलुप्त हो गयी। सहिष्णुता, भारतीय संस्कृति की प्रकृति में समाहित है। बहुलतावादी लोकतंत्रात्मक सामाजिक व्यवस्था में सहिष्णुता के गुण को प्रोत्साहित किया जाना आवश्यक है।

समरसता

सामाजिक समरसता का तत्व भाषा, वेश–भूषा, जाति, उपासना–पद्धति, आस्था व विश्वास के आधार पर भिन्नता वाले सामाजिक समूहों को जोड़कर एकजुट रखता है। खेल–कूद, साहित्यिक व सांस्कतिक कार्यक्रमों के आयोजन, तीज–त्यौहारों के सामूहिक आयोजन, मेले व सम्मेलनों के आयोजन सामाजिक समरसता का सम्बर्धन करते हैं तथा समाज में समानता व सद्भाव पैदा करने के लिये आवश्यक हैं। छुआ–छूत, ऊँच–नीच की सामाजिक बुराई को याद करा कर राजनैतिक स्वार्थ सिद्ध करना एक सामाजिक अपराध है। परिपक्व होते भारतीय लोकतंत्र में ऐसी मानसिकता को हवा देने वाले सामाजिक समरसता को खंडित कर लोकतंत्र के मूल्यों का गला घोटने का कृत्य करते हैं। समाज में जब समरसता घनीभूत होती है तो मानव समूहों के मध्य एक ही मिशन, आदर्श व भावधारा होती है। भावात्मक एकता उफान पर होती है तथा जनमानस में राष्ट्रभक्ति प्रस्फुटित होती है। राष्ट्र एक और अखंड बनता है।

उत्कृष्ट दार्शनिक विचार

दार्शनिक विचार समाज व राष्ट्र का मार्गदर्शन करते हैं। जो दर्शन युगानुकूल समाज का दिशा–निर्देशन नहीं कर सकताद्ध वह अल्पजीवी विचार हो सकता है, दर्शन नहीं। सशक्त विचार जन्म लेकर कभी नहीं मरते। एक विचार दूसरे विचार के प्रभाव में कभी–कभी समाप्त हुए प्रतीत होते हैं। वस्तुतः वह समाप्त नहीं हो जाते। अनुकूल स्थिति में वे पुनर्जीवित हो उठते हैं। सशक्त दार्शनिक विचार शाश्वत व कालजयी होते हैं। मानव का भौगोलिक क्षेत्रों में आवागमन प्रतिबन्धित या सीमित हो सकता है किन्तु सशक्त व उत्कृष्ट दार्शनिक विचार को भौगोलिक सीमाएँ कैद नहीं कर सकती हैं। विचार किस आकाश मार्ग से आते–जाते हैं, निश्चित कर पाना कठिन है। वायु के प्रवाह के समान विचारों का प्रवाह अबाध रूप में होता रहता है। अहिंसा व करुणा के विचार वैदिक मनीषियों के मानस में उपजे। उत्तर वैदिक काल की परिस्थितियों में लुप्त हो गये किन्तु गौतम बुद्ध व महावीर स्वामी के मानस में पुनः उपजे तथा तत्कालीन समाज व शासन–व्यवस्थाओं को प्रभावित किया। मध्ययुगीन सामंती व्यवस्था में अहिंसा के सामाजिक मूल्य का पुनः तिरस्कार हुआ किन्तु सत्य और अहिंसा के विचार पुनः गाँधी के मानस में उपजे तथा पूरी शक्ति व ऊर्जा के साथ उपनिवेशी शासन व्यवस्था को भारतभूमि से उखाड़ फेंकने में समर्थ हुये। कार्लमार्क्स के साम्यवादी विचारों ने यूरोप व यूरोप से बाहर तमाम देशों की सामाजिक व शासन व्यवस्थाओं को नये आकार व स्वरूप प्रदान किये किन्तु सोवियत रूस के विखंडन के कारण वर्तमान में साम्यवादी विचार हाशिये में चले गये जो भविष्य में कभी पुनःसशक्त होकर प्रभावी होंगे। दार्शनिक विचार जन्म व पुनर्जन्म की प्रक्रिया से गुजरते रहते हैं तथा जब तक मानव समाज रहेगा वे उसमें विद्यमान रहेंगे। उत्कृष्ट दार्शनिक विचार संस्कृति के अंग व आभूषण होते हैं तथा समाज की अमूल्य विरासत है।

शान्ति व सशस्त्रीकरण समाज में सदैव विद्यमान रहे हैं। प्राचीन भारतीय मनीषा का प्रयोग शास्त्र रचना में हुआ। सत्यान्वेषी ऋषियों ने ऐसे धारदार विचार दिये जो हिंसक विचारों की धार को भोंथरी करते

रहे। अहिंसा और शान्ति के सामाजिक मूल्य भारत की सनातन संस्कृति के प्रमुख अंग रहे। सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह, सहिष्णुता, सहअस्तित्व जैसे मूल्यों का सृजन शास्त्रों में हुआ तथा समाज को दिशा देते रहे। उपभोक्तावादी व भौतिकवादी विचार ऐसे स्पर्धी समाज की रचना करते हैं जिसमें व्यक्ति स्वार्थी, हिंसक, असंवेदनशील बनता है तथा सामाजिक चेतना शून्य होकर समाज में भ्रातृत्व, समता, सद्भाव, सौहार्द तथा शान्ति को विनष्ट करता है।

समग्र दृष्टिकोण

विश्व की सर्वाधिक दीर्घकालिक भारतीय चिंतन परम्परा के संवाहक मनीषियों ने समस्त जीवधारियों में 'आत्मा' नामक तत्व के आधार पर समानता का आधार स्थापित किया। आत्मा की शाश्वतता में विश्वास करना सनातन धर्म की चिंतन परम्परा का प्रमुख अंग रहा है। रंग-रूप, जाति, भाषा, वेश-भूषा, आस्था व विश्वास के आधार पर सतही तौर पर भिन्न-भिन्न दिखने वाली विश्व की समस्त मानवता में एक ही आत्मा चैतन्य रूप में विद्यमान है। मानव शरीर जाति, भाषा व उपासना पद्धतियों के आधार पर विभक्त हो सकता है, किन्तु आत्मा की कोई जाति, भाषा व पंथ नहीं होता। गीता में कहा गया है–

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूतरायस्थिता।
अहं आदिश्च मध्यश्च भूतानां अन्त एव च।। (गीता, अध्याय-१०, श्लोक-२०)

आत्मा नामक यह तत्व सभी प्राणियों में विद्यमान है। खंडित दृष्टि से समग्र को नहीं देखा जा सकता। समग्र को समझने, समग्र को देखने। समग्र को हितचिंतन करने के लिये दृष्टि व विचारों में समग्रता का होना आवश्यक है। भारतीय चिंतन परम्परा समग्रता (पूर्णता) की पोषक व प्रेरक रही, जिसके कतिपय उदाहरण निम्नवत् द्रष्टव्य है।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते। (ईशोपनिषद्)

यह (जगत) पूर्ण है। वह (ब्रह्म) भी पूर्ण है। पूर्ण से पूर्ण को निकालने पर पूर्ण ही शेष रहता है। संकुचित दृष्टि व विचार वाले व्यक्ति के लिये संसार अपने और पराये में विभक्त होता है किन्तु उदारचेता एकात्मभाव वाले समग्र दृष्टियुक्त व्यक्ति के लिये सम्पूर्ण विश्व कुटुम्बवत् होता है। उसकी आत्मीयता विस्तृत होकर विश्वव्यापी हो जाती। उसके सब अपने होते हैं, पराया कोई नहीं।

आज हम ऐसे समाज की रचना कर रहे हैं जिसमें हिंसा, वैमनस्य, क्रूरता बढ़ रही है। सामाजिक सद्भाव व समरसता घट रही है। आदमी में आदमियत घट रही है। विश्व मानवता के अमन-चैन पर आतंकवाद का ग्रहण लगा हुआ है। इस विभीषिका से मुक्ति का एक ही उपाय है कि सभी स्तरों पर जीवन मूल्यों के संवर्धन व संरक्षण के प्रयास किये जायें।

सन्दर्भ सूची :

१. दुबे, श्यामाचरण- समय और संस्कृति,
२. शशि प्रभा कुमार- भारतीय संस्कृति-विविध आयाम,
३. ईश्वरी प्रसाद व शैलेन्द्र शर्मा- प्राचीन भारतीय संस्कृति, कला, धर्म व दर्शन,
४. जयसिंह नीरज व डॉ० वी०एल० शर्मा- राजस्थान की सांस्कृतिक परम्परा,
५. त्रिवेदी, सुशील- हिन्दी साहित्य का इतिहास- भाषा संस्कृति व चिंतन,
७. Rao, M. Kodand- Culture and structural dimensions of family.
८. वाचस्पति, गौरोला- वैदिक साहित्य और संस्कृति
९. त्रिपाठी, शिवशंकर व शेषमणि- भाषा, साहित्य व संस्कृति,
१०. पाण्डेय, गोबिन्द चन्द्र- भारतीय कला एवं संस्कृति।

***

मौलाना रूमी और संत कबीर का 'घर'

डॉ० कृष्ण कुमार कौशिक*

'इश्क-ए-इलाही' में मगन रहकर हिन्दुस्तान की गलियों में अपना घर ढूँढने वाले मौलाना रूमी का घर कैसा है? उसकी क्या पहचान है? कैसे उस घर को खोजा जा सकता है? आदि प्रश्नों में जुड़े अनेक संदर्भ हमें सूफी-संतों की वाणी में मिलते हैं। सहरपा ने 'दिल' को उसका मुकाम बताया है 'He is within your house (of body)'[१], यही मान्यता संत कबीर की भी है 'इहिं पर नरहरि भेटिये तू छांडि कपट अभिमान रे।'[२] अर्थात् परम सत्य के अनुभव के लिए कहीं जाने की आवश्यकता नहीं है।[३] संतों ने घर के भीतर 'घर' की अनुभूति कराने का प्रयास किया है[४] जहाँ सभी प्रकार के विविध-विधानों का निषेध है "In the conception of the 'Man of the heart' of the Bauls we find a happy mixture of the conception of the Paramatman of the Upanisads, the Sahaja of the Sahajivas and the sufistic conception of the Beloved"[५] सूफियों की मान्यता है कि वह दिल में रहता है। मौलाना रूमी ने दिल को ही उसका मुकम्मल स्थान बताया है- "In the flickering/flame/of the beloved/the heart makes itself a home"[६]. मौलाना रूमी और कबीर को यह दुनिया निस्सार लगती है। ज्यों-ज्यों इनका मन परम सत्ता की ओर उन्मुख होता है त्यों-त्यों वे इस माटी की दुनिया से निकल अपने उद्‌गम स्थान को पाना चाहते हैं। रूमी कहते हैं- 'कहाँ यह मिट्टी की दुनिया और कहाँ (वह) मुक्ता-फलक सदृश पवित्र-स्थल! यद्यपि हम नीचे आ गए हैं, जल्दी उधर ही चलें। यह कौन-सी जगह है? भला यह कोई रहने लायक जगह है?[७]

> आलमे ख़ाक अज़ कुजा गौहरे-पाक अज़ कुजा;
> गर्चे फ़रूद आमदीम बाज़ दवीम ईन चे जास्त।
> इब न रहूँ माटी के घर में, इब मैं जाइ रहूँ मिलि हरि मैं।।[८]

रूमी और कबीर की दृष्टि में जीवन की परम उपलब्धि निष्काम-प्रेम से ही संभव है। परम सत्य को पाने का सर्वोत्तम स्थान गृहस्थाश्रम ही है। 'घर में बसंत बस्तु भी घर है, घर ही बस्तु मिलावे।[९] मौलाना रूमी और कबीर का जिस 'घर' की ओर संकेत है वह 'घर' भौतिक आकार या वस्तुओं का संग्रह मात्र नहीं है। इनका संकल्पित घर गृहस्थी की आसक्ति और आकाश की शून्यता, वसुधा और व्योम की विरक्ति से भिन्न स्वभाव का मध्यभाव है। जहाँ न धरती की जड़ता है और आकर्षण है और न आकाश की निर्जीव शून्यता। वह घर निराधार-आधार पर रूपायित हुआ है-

---

* एसोसिएट प्रोफेसर, जामिया मिलिया इस्लामिया, नई दिल्ली-११००२५

एक अनोखा गिरह बनाया ऊपर नींव नीचे घर छाया।
बाँस न बल्ली बंधन घने कहो, 'खुसरो' घर कैसे बने।।[१०]
नींव बिहूँणा देहरा, देह बिहूँणा देव।
कबीर तहाँ बिलंबिआ, करैं अलख की सेवा।।[११]
एक घर निराधार आपुही दिषाई है।।[१२]
पाँच तत्त्व मिल मोहोल रच्यौ, सो अंत्रीख क्यों अटकानो।[१३]

भारतीय चिन्तन परम्परा में 'घर' का, सांस्कृतिक-आध्यात्मिक चिन्तन एक-दूसरे के पूरक हैं। मानव समाज में गृहस्थाश्रम की जो संकल्पना है उसमें घर भी है और आश्रम भी। जो जीवन और चिन्तन के अनेक सम्बन्ध सूत्रों को अपने में अनुस्यूत किए हुए हैं। जिसने घर विषयक चिंतन को दोनों संदर्भों में जीवंत बनाए रखा है। रूमी और कबीर आदि संतों के चिंतन का आधार घर ही रहा है।

घर में 'घर' की खोज-चेतना विश्व मनीषा में युगों से कुलबुलाती रही है। 'घर' का रूपक घर की आसक्ति को छोड़कर चिंतकों का दार्शनिक पक्ष उभरता रहा है। दर्शन के द्वारा खोलता रहा है। सूफी चिंतन परम्परा में 'घर' विषयक रूपक के अनेक सूत्र मिलते हैं। कहा भी गया है कि 'बस्ती मिली, मकान मिले, बामो-दर मिले/मैं ढूँढता रहा कि मुझे कोई घर मिले।' यह पंक्तियाँ किस घर की ओर संकेत करती है? संभवतः उसी घर की ओर जिसका कोई आधार नहीं है। पहचान नहीं है। इस घर की पहचान कैसे होगी? स्वामी रामतीर्थ का यह कथन उस पहचान की ओर संकेत करता है– 'लिया जो करवट तो याद आया, राम मुझ में मैं राम में हूँ।' उस घर की पहचान चेतना की करवट बिना संभव नहीं है। यह करवट कौन देगा? मौलना रूमी को यह करवट शम्स तबरेजी ने दी थी। कबीर को रामानन्द ने दी थी। नानकदेव, दादूदयाल, मीराबाई, रज्जब, सुन्दरदास, महामतिप्राणनाथ आदि को उस घर की राह पर ले जाने वाला सतगुरु ही है।[१४] ऐसा ही विश्वास मौलाना रूमी का था कि बिना मार्गदर्शक के गंतव्य तक नहीं पहुँचा जा सकता। पथ-प्रदर्शक (गुरु) की महत्ता का वर्णन करते हुए रूमी कहते हैं :

हर की दर रह बे क़लावज़ी रवद। हर दो रोज़े राह सद साला शवद।।
हर कि ताज़द सूए काबा बे दलील। हम चू ईन सर गश्तगान गरदद जलील।।
रौ बख़ू यारे ख़ुदाई रा तू जुवद। चूं चुनान करदी खुदा यार तू बुवद।।

अर्थात् यदि कोई व्यक्ति बिना नेता (पथ-प्रदर्शक) के स्वयं मार्ग पर चल पड़ता है तो दो दिनों की यात्रा (उसके लिए) सौ सालों की यात्रा बन जाती है। जो बिना मार्ग-दर्शक की सहायता के काबा की ओर चल पड़ता है। वह निंदा का पात्र बन जाता है। ईश्वर के मित्र की तलाश करो। यदि वह मिल गया तो समझो कि स्वयं ईश्वर ही तुम्हारा मित्र बन गया है।[१५] शम्स तबरेजी के सम्पर्क में आने के बाद रूमी की चिंतन पद्धति एकदम बदल गई थी। रूमी ने शम्स को अपना गुरु बना लिया था और सर्वस्व उन पर कुर्बान कर दिया। शम्स के विछोह ने रूमी के जीवन में उथल-पुथल मचा दी थी। रूमी ने शम्स को पुनः पाने के लिए अपना जीवन गुरु के प्रति समर्पित कर दिया था। अन्ततः शम्स के विरह में रूमी के मुखारविंद से जो वाणी निःसृत हुई वह अद्भुत थी। जो 'दीवान-ए-शम्स' के रूप में प्रसिद्ध हुई। अध्यात्म के मार्ग को प्रशस्त करने वाली यह कृति अनुपम है। रूमी कहते हैं– 'यदि तुम्हें अध्यात्म के सागर की तलाश है तो मसनवी के द्वीप में जाओ।'[१६] गुरु प्रदत्त ज्ञान द्वारा आत्म-साक्षात्कार की स्थिति में रूमी और कबीर ने उसे अपने हृदय में ही पाया। सच्चा-प्रेम प्रेमी और प्रेमास्पद के भेद को ही मिटा देता है। तब रूमी पुकार उठते हैं–

Come, Saqi !
We call on you to ward away dualities
Put one Strong shot in my Palm
and Unite all multiplicities in one.[17]

मौलाना रूमी और संत कबीर का अनुभूत सत्य मजहब, दिक्, देशकाल, वर्ण-वर्ग, भाषा, क्षेत्र आदि की समस्त सीमाओं से परे है। वहाँ द्वैत के लिए कोई स्थान नहीं है 'For two can never fit within on place'. 'जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि है मैं नांहि।'[१८] यही अनुभव संत कबीर का भी है। अद्वैत की स्थिति में रूमी का अनुभूत सत्य है।

अद्वैत की स्थिति में परमसत्ता की कोई पहचान-चिह्न आदि शेष नहीं रहता। तब स्वयं अनुभवकर्ता की वाणी से मुखरित होता है कि मेरा कोई ठौर नहीं है, मैं ला-मकां हूँ, मेरा कोई निशान नहीं है। न मैं ईसाई हूँ, न यहूदी, न पारसी और न मुसलमान। न पूर्व का हूँ न पश्चिम का। ... न मैं भारतीय हूँ, न चीन का हूँ, न मैं बलगारिया का या सकलानिया का हूँ। मैं इराक का भी नहीं हूँ और न खुरासन का। न तो मैं संसार का हूँ और न आकाश का। मैं न स्वर्ग का ही जीव हूँ और न नरक का। न मेरा आदम और हौवा से सम्बन्ध है। न ही मैं फिरदौस से आया हूँ। मैं ला-मकां हूँ अर्थात् देश विहीन हूँ। मेरा कोई ठौर-ठिकाना नहीं है। न मैं शरीर हूँ, न प्राण वरन मैं प्राणों का भी प्राण हूँ। संत कबीर का अनुभव भी ऐसा ही है।[१९] उसकी गति को कोई नहीं जान सका है। जिसने भी उस सत्ता का अनुभव किया उसने मौन को ही सर्वोत्तम माना है। वेद-पुराण आदि धर्म ग्रंथों-शास्त्रों की पहुँच से परे है वह।[२०] उस लोक में उसके अतिरिक्त कोई सत्ता नहीं है। वह अजर-अमर और काल की पहुँच से परे है। सीमातीत है। वर्ण, वर्ग, जाति, धर्म आदि से रहित है। उस अद्भुत लोक के अनुभव को अभिव्यक्त कहते हुए कबीरदास कहते हैं–

जहवाँ से आयो अमर वह देसवा।
पानी न पौन न धरती अकसवा, चाँद न सूर न रैन दिवसवा।
बाम्हन, छत्री, न सूद बैसवा, मुगल पठान न सैयद सेखवा।
आदि जोति नहि गौर गनेसवा, ब्रह्मा विस्नु महेस न सेसवा।
जोगी न जंगम मुनि दुरुबेसवा, आदि न अन्त न काल कलेसवा।
दास कबीर ले आया सँदेसवा, सार सबद गहि चलौ वहि देसवा।।[२१]

मौलाना रूमी और संत कबीर आज भी जीवित हैं। उन्होंने अपनी शायरी/वाणी के प्रभाव से सभी प्रकार के बैरियरों को ध्वस्त करते हुए प्रेम की फसल का जो लोक निर्मित किया है, उसमें राग-द्वेष, वर्ण-वर्ग, भाषा और देशकाल की सीमाएँ नहीं हैं। वहाँ अहं के लिए कोई स्थान नहीं है। वह तो घर है प्रेम का 'The house of love' उसे ही खुदा का घर कहा जाता है– once called the house of God. उस घर में सभी प्रकार की संकीर्णताएँ समाप्त हो जाती है। वहाँ तक पहुँचने वाले सभी साधक प्रेम के सच्चे पथिक हैं। यह प्रेम पुनः साधक को उसके 'शाश्वत घर' Eternal abode से जोड़ देता है–

हम बासी उस देश के, जहाँ जाति पाँति कुल नांहि।
सबद मिलावा ह्वै रहा, देह मिलावा नाहि।।[२२]

रूमी और कबीर की वाणी में निहित रूहानी प्रकाश मन के भीतर की कोठरियों में बसे अंधकार और संकीर्णता को दूर करता है। इनकी कुटिया जैसा घर चारों ओर से खुला हुआ, बिना दरवाजों का मकां है। जहाँ कोई भी, कहीं का भी, किधर से ही आकर, ठहर कर सुकून का अनुभव कर सकता है। निष्कर्षतः

कह सकते हैं कि इनका काव्य सर्वव्यापी परम सत्य की अनुभूतियों का अद्भुत खजाना है। जिनका प्रभाव सार्वकालिक है। चिन्तन की ऐसी मानसिकता मनुष्य के प्रति मनुष्य में सह–अनुभूति की पीड़ा जगाती है, निकेत में अनिकेत का बोध कराती है। ऐसी स्थिति में यह जग तपोवन–सा होगा।

खुदा के घर में शरीर और संसार के सभी बन्धनों को तोड़कर ही, 'निजघर' को पुनः पाया जा सकता है। सूफियों के लिए यही सबसे महान् जेहाद (Jihad) है, मौलाना रूमी ने फीहे–मा–फीह में इसका खुलासा किया है– 'In his presence there is no room for two egos. You say-"ego" and he 'ego'? Either you die in his presence, or he will die in your presence, so that no duality may remain.... He would die for you to remove the duality. But since His death is impossible, you die so that he may become manifast in you and the duality be lifted'.[23] आज से आठ सौ वर्ष पहले हुए मौलाना रूमी हो अथवा छः सौ वर्ष पहले हुए कबीर हों, वे आज भी जीवित हैं। इनके अध्यात्मिक चिंतन ने विश्व मनीषा को प्रभावित किया है। विद्वेषों से विखण्डित विस्फोटों से भरे जुनूनी माहौल की आग को अपनी रससिक्त शायरी–वाणी की शीलता से सींचा है। मानवता और विश्वबन्धुत्व की भावना को पोषित और पुष्ट किया है, 'तू बराये वस्ल करदन आमदी/न बराये फस्ल करदन आमदी।[२४] House of love-House of God के पथिक जिस भी मार्ग से आएँ अन्ततः वे सभी एक हैं।[२५] सबका लक्ष्य एक है 'You run from me, 'In the end you will return to me for I am your destination' [26] मौलाना रूमी और कबीर की रूह चेतना का घर प्रेम का 'घर' है 'House of Love'. जो सभी प्रकार की हरबन्दियों से परे है जहाँ पूर्व और पश्चिम का झगड़ा नहीं है–

Love`s folk live beyond religious borders
The community and creed of lovers : God[27]
सखि, वह घर सबसे न्यारा, जहँ पूरन पुरुष हमारा।[२८]
हद्द छाँड़ि बेहद गया, किया सुन्नि असनान।
मुनि जन महल न पावई, तहाँ किया विश्राम।।

संदर्भ सूची :

१. He is within your house (of body), and you are looking for out side! You are beholding your husband (within), and asking for his where abouts to your neighbours'. vividh-dharmasangit, Page-९०
२. कबीर ग्रंथावली, सम्पादक– डॉ० पारसनाथ तिवारी, पद १०, पृ० ८
३. मोको कहाँ ढूँढे बंदे, मैं तो तेरे पास में। कबीर– आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पद–१, पृ० १७९
४. (क) दिल में खोज दिलहि मैं खोजौ इन्हैं करीमा– रामा, कबीर, पद ६९, पृ० २१०
(ख) घर महि घरू दिखाइ देह सो सति गुरु पुरखु सुजाणु। गुरू ग्रंथ साहिब, मलार, सलोक म० १, पृ० १२९१
५. Obscure Religious Cults, Page 181.
६. Rumi Past and Present, East and West- Franklin D Lewis, D-2789, Page 169.
७. त्रिनाथ मिश्र, मौलाना जलालुद्दीन रूमी– पृ० ६६
८. कबीर, पद २१५, पृ० २१४
९. वही, पद ४०, पृ० २०२
१०. अमीर खुसरो का हिन्दी काव्य– पृ० ६८

११. कबीर– पद २४०, पृ० २६९
१२. सुन्दर सवैया ग्रंथ– सम्पा० डॉ० रमेशचन्द्र मिश्र, पृ० २८
१३. महामति प्राणनाथ– किरंतन २/३,४
१४. (क) पीर रा बेगुजी कि बे पीर ई सफर,
हस्त, बसपुर आफ़तो खौफो खतर। रूमी।
(ख) घर में जुक्त मुक्त घर ही में, जो गुरु अलख लखावै।– कबीर, पद ४०, पृ० २०२
(ग) हरि का निज घर कोइक पावै।
जा परि कृपा होइ सतगुरु की सो वाही ठौर समावै।।– सुन्दर ग्रंथावली– भाग–२, पद १०९
(घ) यामें अन्तर वासा ब्रह्म का, सो सतगुरु दिया बताय। महामति प्राणनाथ– किरंतन ३५/२८
(ङ) गुरु बिन वह घर कौन दिखावै।– चरनदास बाणी २, भेद ७, पृ० ४
१५. मौलाना जलालुद्दीन रूमी, पृ० ९४
१६. वही, पृ० ८०
१७. Rumi Past and Present, East and West- Franklim D Lewis, Poem 21/D 1821, p. 359
१८. कबीर ग्रंथावली– डॉ० पारसनाथ तिवारी, परचा कौ अंग १, पृ० १६६
१९. रूमी एवं कबीर– पृ० १४०
२०. (क) अबिगत की गति लखी न जाई।
चारि बंद अरु सुंम्रित पुराना, नो ब्याकरनां मरम न जानां।।
कबीर ग्रंथावली– संपा० डॉ० पारसनाथ तिवारी, पद १५३, पृ० ८९
(ख) 'Art is an expression but Rumi is his 'open secret' says that there is a drawback in speech. It may be adefuate, but it has lot of shortcomings in perfect expression. It is also true that God cannot be decribed in the vocabulary of this world; for where He is, there is no language. Mevlana Rumi and Kabir both are mystics and have expressed their view that it is difficult to express in words the completes ecstatic realization of God as well as nature, and deepest level of lovers mental and physical experiences, they passess.
Aesthetics of subjective philosopy of Mevlana Jelaluddin Rumi and Kabir, by Prof. Dr. Nurcihan Begum, Mawlana Rumi Bridge of East and West, M. Ikram Chaghatai, p. 336.
२१. कबीर, पद २२८, पृ० २६६
२२. कबीर ग्रन्थावली– सम्पा० डॉ० पारसनाथ तिवारी, सूखिम मारग को अंग, साखी १४, पृ० १७४
२३. Rumi Past and Present, East and West, Page ४१८
२४. रूमी व कबीर– पृ० ८
२५. Rumi Past and Present, East and West D-1725, Page ३५४.
२६. do 1770, Page ४०६.
२७. कबीर– पद २३६, पृ० २६८
२८. कबीर– परचा कौ अंग, सा० २१, पृ० १६९.

***

सामान्य निर्धन वर्ग और आर्थिक सहायता

डॉ० अजय आर० चौरे*
डॉ० नीलम चौरे**

सामान्य निर्धन वर्ग को समाज की मुख्य धारा में लाने के लिये जो उपाय आज तलाशे जा रहे हैं, इसके सम्बन्ध में संविधान निर्मात्री सभा स्वतंत्रता के बाद काफी बहस हो चुकी है। क्योंकि विश्व के किसी भी संविधान में सामाजिक न्याय के नाम पर समाज को बाँटने की बात नहीं की गयी है। संविधान सभा की अल्पमत समिति ने ०८ अगस्त, १९४७ की अपनी जो रिपोर्ट भेजी थी उसमें सेवाओं में भर्ती के बारे में सरदार पटेल ने कहा था–"हमारे सामने यह प्रस्ताव आया कि सार्वजनिक सेवाओं में अल्पमत समुदायों को उनकी जनसंख्या के आधार पर प्रतिनिधित्व देने की संवैधानिक गारंटी होना चाहिए। हम किसी ऐसे संविधान को नहीं जानते जिनमें इस तरह की गारंटी विद्यमान हो और गुणवत्ता के आधार पर समझते हैं कि इस प्रकार की गारंटी का प्रावधान एक भयंकर पहल होगी। साथ ही हमें यह भी स्पष्ट है कि प्रशासन में कुशलता की आवश्यकता के साथ-साथ राज्यों के लिये यह भी आवश्यक है कि वे सार्वजनिक सेवाओं में नियुक्ति करते समय सभी अल्पमतों के दावों को ध्यान में रखें।"[१] इससे स्पष्ट संकेत मिलते हैं कि आर्थिक आधार पर सरकारी सहायता उपलब्ध करवाने का बुद्धिजीवियों का मन तब भी था।

जब ११ मई, १९४९ ई० को बैठक में समिति ने यह निश्चय किया कि अनुसूचित जाति को छोड़कर अन्य किसी अल्पमत संप्रदाय के लिये राजनीतिक आरक्षण नहीं होना चाहिये, तो उसके साथ ही प्रशासनिक सेवाओं में अनुसूचित जाति व जनजातियों के दावों को मान्य कर लिया। वर्तमान धारा-३३५ में इस प्रकार है– "सेवाओं और पदों के लिये अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के दैव संघ व किसी राज्य के क्रियाकलापों से संबन्धित सेवाओं व पदों के लिये नियुक्तियाँ करने में अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के सदस्यों के दाबों का प्रशासन की दक्षता बनाये रखने की संगति के अनुसार ध्यान रखा जायेगा।"[२]

संविधान के अनुच्छेद-१६ पर जो चर्चा हुई उसमें पिछड़ा वर्ग का क्या अर्थ है इस पर केवल डॉ० अम्बेडकर का ही मत प्राप्त हुआ जिसमें ज्ञात हुआ कि अनुसूचित जातियाँ व जनजातियाँ ही पिछड़ा वर्ग है। डॉ० अम्बेडकर पिछड़े वर्ग का विस्तार से अर्थ नहीं कर सके और उन्होंने यह राज्य सरकारों पर छोड़ दिया। कुछ सदस्यों ने विभिन्न राज्यों का उल्लेख किया, जहाँ पर पिछड़ा वर्ग के बारे में अलग-अलग परिभाषाएँ हैं। कुछ सदस्य इस अपवाद को रखना ही नहीं चाहते थे। अनेक सदस्यों ने यह कहा कि

* एसोसिएट प्रोफेसर, समाजकार्य, मा०गां०चि०ग्रा०वि०वि०, सतना (म०प्र०)
** एसोसिएट प्रोफेसर, समाजकार्य, मा०गां०चि०ग्रा०वि०वि०, सतना (म०प्र०)

पिछड़ों, धर्म व जाति की सीमा में नहीं देखना चाहिये और जो आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न है उन्हें पिछड़ा नहीं मानना चाहिये, इस बारे में जितने भी संशोधन थे वे सब अस्वीकार हो गये और मसौदा समिति ने जो प्रस्ताव किया वही पारित हुआ। यदि मसौदा समिति में पिछड़े वर्ग की सही परिभाषा निर्धारित की जाती तो आज सामाजिक विभाजन की आग को हम न झेल रहे होते।

स्वतंत्रता के बाद भारत सरकार ने पिछड़ा वर्ग आयोग के ऊपर यह दायित्व सौंपा कि वह मापदंड स्थापित करें जिससे पिछड़े वर्ग की सर्वमान्य परिभाषा निश्चित हो सके। पर स्वयं आयोग इससे सहमत न हो सका। आयोग के ११ सदस्यों में से ५ जाति के आधार पर आरक्षण चाहते थे और ०५ सदस्य आर्थिक आधार पर आरक्षण चाहते थे, अध्यक्ष भी इससे सहमत नहीं थे। गृहमंत्री श्रीपंत ने भारत सरकार की ओर से संसद के समक्ष जो टिप्पणी रखी, उसमें भी जाति को पिछड़ेपन का आधार बनाने का घोर विरोध किया किन्तु राज्यों को यह स्वतंत्रता दी कि वह इस आधार पर अपने वहाँ पिछड़ा वर्ग का निर्धारण करे।

राजनीतिक लाभ को प्राप्त करने के लिये देश के विभिन्न राज्यों ने जातीय आरक्षण को अधिक महत्व दिया। जबकि सामाजिक न्याय के तहत आर्थिक रूप से कमजोर परिवारों को आरक्षण या सरकारी सहायता दी जानी चाहिये। अब चूँकि यह संभव न हो सका और स्वतंत्रता के ६५ वर्षों के बाद भी सामाजिक न्याय लोगों को प्राप्त नहीं हुआ तब बहस छिड़ी कि सामान्य वर्ग के निर्धनों को आर्थिक सहायता कैसे दें? इस पर पुनः विचार होने लगा–

सामान्य वर्ग के निर्धनों की पहचान के कुछ बिन्दु

* गरीबी–रेखा का निर्धारण जिस तरह प्रति व्यक्ति निश्चित आय के आधार पर किया जाता इसी प्रकार सामान्य वर्ग के निर्धनों की आय की सीमा निर्धारित कर सहायता उपलब्ध करवायी जाय।

* सामान्य वर्ग में ३०००/– रुपये तक की मासिक आय प्राप्त आय और बढ़ती हुई मँहगाई को देखते हुये उसको बढ़ाया जा सकता है, को निर्धनों की श्रेणी में रखा जाय।

* इसमें परिवार के पालक की आय को आधार बनाया जाय।

राजकीय सहायता किन क्षेत्रों में दी जाय

सामान्य–वर्ग के नागरिक भी यदि स्वस्थ, शिक्षित और रोजगार सम्पन्न हैं तो देश प्रगतिशील होगा।

सामान्य वर्ग के निर्धनों को राज्य द्वारा स्वास्थ्य हेतु आर्थिक सहायता प्राप्त होना चाहिये।

आज बढ़ती हुई मँहगाई व शिक्षा का संचालन प्राइवेट स्तर पर किये जाने के कारण प्राइवेट कालेज मनमानी फीस लेने हैं जिनका सीधा प्रभाव सामान्य वर्ग पर पड़ता है क्योंकि अन्य वर्गों का फीस या तो माफ हो जाती है या उन्हें सरकार द्वारा आर्थिक सहायता प्राप्त हो जाती है। किन्तु उच्चवर्ग के छात्र वे योग्यता रखते हुये भी शिक्षा से वंचित रह जाते हैं। अतः शिक्षा हेतु इन्हें राज्य द्वारा आर्थिक सहायता प्राप्त होना चाहिये।

* स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से प्रशासन, स्वास्थ्य, शिक्षा में निरंतर गिरावट का रही है जो भारत जैसे देश के लिये शुभ संकेत नहीं, ऐसी स्थिति से उबरने के लिये रोजगार के समान अवसर योग्यता के आधार पर सभी वर्गों को उपलब्ध होना चाहिये।

* नौकरी में आरक्षण का आधार जाति न होकर योग्यता होना चाहिये ताकि सामाजिक न्याय की रक्षा हो सके और देश विकास करे।

आर्थिक सहायता उपलब्ध करवाने की स्थिति के आधार

* विगत वर्षों से शिक्षा, स्वास्थ्य व प्रशासन की गिरती हुई मान्यताओं को देखकर लगता है कि आरक्षण या सरकारी सहायता जाति, धर्म व सम्प्रदाय व लिंग के आधार पर नहीं दी जानी चाहिये।

* योग्यता ही आधार हो विगत वर्षों में जाति आरक्षण देने के बाद देखने में आया कि जिन जातियों को आरक्षण दिया गया था सामाज में उनके भी आर्थिक आधार पर दो वर्ग बन गये, उन्हीं जातियों द्वारा अपनी जाति के निर्धन वर्ग का शोषण किया जा रहा और सम्पन्न निरंतर सरकारी सहायता का लाभ ले रहा है इस कारण सरकारी सहायता का आधार निर्धनता हो न कि जाति; ताकि समाज के सभी वर्गों को मुख्यधारा में जोड़ा जा सके।

* प्राचीन समाज में जहाँ सवर्णों द्वारा अनुसूचित जातियों का शोषण किया जाता था। आज जातिगत सरकारी सहायता ने उसी जाति शोषण पैदा कर दिये। सामाजिक न्याय को प्राप्त करने की बजाय हम न्याय से बहुत दूर हो गये और समानता लाने की बजाय कई वर्गों में विभक्त हो गये।

वर्तमान लोक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा को सफल बनाने के लिये हमें दलगत लाभ, वोट की राजनीति से ऊपर उठकर फैसले करने होंगे। तभी हम सच्चे नागरिक, सच्चे शासक और सच्चे अर्थों में देश के युवाओं को दिशा देकर विश्व का अग्रिम दूत बना सकते हैं। अन्यथा यह युवा शक्ति जो भारत की नहीं, बल्कि सम्पूर्ण विश्व की धरोहर है वह आपस के विवादों में उलझकर, धर्म, जाति, संप्रदाय के विवादों में उलझ कर अपनी ऊर्जा का दुरुपयोग करेगी और तब हम इतिहास के सबसे बड़े गुनहगार होंगे। अब समय आ गया है हम संविधान के उन धाराओं में समय की माँग के अनुरूप परिवर्तन करें जो देश को आपस में जोड़कर विकास पथ पर ले जाये।

संदर्भ सूची :

१. सामान्य निर्धन वर्ग की रिपोर्ट (म०प्र० शासन २००९-१०)

२. भारतीय शासन एवं राजनीति (मौरिसाजोन्स), (दिल्ली प्रकाशन)

३. प्रतियोगिता दर्पण (मार्च २०१०-११)

४. भारत में समाज कल्याण एवं सामाजिक अधिनियम (अग्रवाल एवं दीक्षित एस०बी०पी०पी०- आगरा)

५. समाज कल्याण पत्रिका- २०१०-११ (मई)।

***

डॉ० रामविलास शर्मा का साहित्य : प्रयोजनीय दृष्टि, चिंतन एवं विवेचन

डॉ० मोहसिन खान*

साहित्य में प्रगतिवादी समीक्षा का प्रारंभ में प्रगतिवादी आंदोलन के साथ जुड़ा है। सन् १९३६ ई० में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना के साथ एक घोषणा पत्र तैयार किया गया जिसमें साहित्य के प्रति नवीन विचारों को समाहित कर साहित्य को नए दृष्टिकोण से लिखने पर बल दिया। प्रगतिशील लेखक संघ के प्रथम अधिवेशन में प्रेमचंद द्वारा दिया गया प्रथम अध्यक्षीय भाषण प्रगतिवादी समीक्षा के लिए महत्वपूर्ण साबित हुआ। 'प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना के एक वर्ष उपरांत ही श्रीशिवदानसिंह चौहान का 'विशाल भारत' (मार्च-१९३७ ई०) में 'भारत में प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता' नामक एक महत्वपूर्ण लेख छपा। इसमें प्रगतिशील साहित्य की विशेषताएँ बताई गई। हिन्दी साहित्य की संक्षेप में पड़ताल की गई। अंत में परिवर्तित समय में प्रगतिशील साहित्य की रचना की आवश्यकता पर बल दिया गया। हिन्दी के किसी घोषित प्रगतिवादी आलोचक द्वारा यह प्रगतिवादी दृष्टिकोण से साहित्यिक विषय पर लिखा गया यह संभवत: प्रथम लेख है।[१]

इस प्रकार साहित्य के क्षेत्र में प्रगतिवादी समीक्षा का उदय हुआ। इस समीक्षा क्षेत्र में शिवदानसिंह चौहान के साथ अमृतराय, डॉ० रामविलास शर्मा, डॉ० प्रकाशचंद्र गुप्त, रांगेय राघव, नामवर सिंह, विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, डॉ० शिवकुमार मिश्र, राहुल सांकृत्यायन, भैरव प्रसाद गुप्त, रमेश कुंतलमेघ, मैनेजर पाण्डे आदि आलोचक और लेखक जुड़े। जिससे प्रगतिवादी समीक्षा का विकास एवं समीक्षा को नवीन दृष्टि प्राप्त हुई।

प्रगतिवादी समीक्षा, आलोचना के क्षेत्र में सर्वथा नवीन दृष्टिकोण लेकर उपस्थित हुई। इस समीक्षा का साहित्य को देखना नया था। पिछले युगों की साहित्यिक कसौटियों को आधुनिक साहित्य पर कसा नहीं जा सकता था। प्रगतिवादी समीक्षा ने अब साहित्य की नई व्याख्या करके साहित्य के सूक्ष्म तत्वों के उद्घाटन के साथ एक विशेष किन्तु उदात्त जनमंगल के दृष्टिकोण से समन्वित सामाजिक यथार्थवाद की भूमिका पर प्रतिष्ठित किया। प्रगतिवादी समीक्षा की प्रमुख माँग यही है कि रचना में सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति हो। इस समीक्षा का मूल ध्येय कृति का समाज के परिप्रेक्ष्य में अध्ययन करना है। प्रगतिवादी समीक्षा के तहत लेखक का यह कर्तव्य है कि किसी युग के चित्र में उस युग के संपूर्ण सामाजिक विकास का चित्रण करें। प्रगतिवादी समीक्षा विषय को प्रधानता देती है। वह रचना सामाजिक जीवन पर पड़ने वाले प्रभाव तथा रचना में सामाजिक जीवन का पुट कितना है, विश्लेषण करती है। यह सौंदर्य तत्त्व को विषय का सहायक ही स्वीकार करती है।

प्रगतिवादी समीक्षा शुद्ध रसवाद या भाववाद का विरोध करती है और साहित्य का लक्ष्य संवेदनशीलता, चित्रात्मकता के माध्यम से ह्रासशील समाज की कुरूपता और गतिशील समाज के जीवंत विश्वासों तथा

---

* सहायक प्राध्यापक-हिन्दी, जनता शिक्षण मंडल द्वारा संचालित कला, विज्ञान एवं वाणिज्य महाविद्यालय, अलीबाग- ४०२ २०१ जिला- रायगढ़ (महाराष्ट्र)

उठती हुई आस्थाओं का स्वरूप उद्‌घाटित करना, संघर्ष करती हुई जनता को नवनिर्माण तथा समाज के लिए विश्वास देना है।

प्रगतिवादी समीक्षा का मुख्य मानदण्ड यह है कि साहित्य का निर्माण सोद्देश्य है। वह उद्देश्य क्या है? सुख-दु:ख की आत्माभिव्यक्ति मात्र नहीं वरन्‌ सामाजिक, यथार्थ का सही और मार्मिक उद्‌घाटन, यही तत्व रचना को जीवंत और अमर बनाता है। प्रगतिवादी समीक्षा का मत है कि कला या साहित्य को सामाजिक उद्देश्य और उपयोग से अलग नहीं किया जा सकता। ये दोनों उसके आवश्यक अंग हैं। प्रगतिवादी समीक्षा रचना की शैली पर भी पर्याप्त विचार-विमर्श करती है। यह समीक्षा छंद, अलंकार, भाषा-शैली को जनसामान्य के बीच से ग्रहण करने की प्रवृत्ति जगाती है।

साहित्य के प्रयोजन को लेकर प्रगतिवादी समीक्षा मानव एवं उसके जीवन को देखती है। मार्क्सवादी की दृष्टि में कला मनुष्य को पूर्णता की ओर ले जाती है और कला एवं साहित्य मनुष्य और समाज को समग्र बनाने की दिशा में प्रेरित करती है। मार्क्सवादी विचारक 'कला जीवन के लिए' सिद्धांत को लेकर चलने वाले हैं और यही प्रगतिवादी समीक्षा का भी ध्येय है। लेकिन कला अथवा साहित्य के प्रयोजन के विषय में कहते हैं– 'कला मानव समुदाय की समष्टि वस्तु है, उसका प्रधान उद्देश्य जनता के विचार भाव और इच्छा शक्ति को संगठित कर उसके जीवन को उन्नत करना है।''[२] प्रगतिवादी समीक्षा साहित्य का प्रयोजन व्यक्ति और जीवन के लिए मानती है। उसके प्रयोजन को एक शब्द में कह सकते हैं– लोक मंगल की कामना।

प्रगतिवादी समीक्षा के प्रमुख मानदण्डों में साहित्य के प्रयोजन पर कई प्रगतिवादी समीक्षकों ने अपने अभिमतों की पुष्टि की है। लगभग सभी समीक्षक साहित्य के प्रयोजन पर सैद्धांतिक रूप से एकमत नजर आते हैं। विभिन्न प्रगतिवादी समीक्षकों के मध्य डॉ० रामविलास शर्मा का स्थान सर्वोच्च और अति महत्वपूर्ण है। डॉ० शर्मा ने न केवल प्रगतिवादी समीक्षा का प्रतिनिधित्व किया बल्कि प्रगतिवादी समीक्षा को अधिक मुखर और व्यापक बनाया। डॉ० शर्मा ने साहित्य को आर्थिक आधार पर विश्लेषण और परीक्षण ही नहीं किया बल्कि सामाजिक परिवेश और युग बोध का भी आंकलन विशेष रूप से करते हैं। डॉ० शर्मा की दृष्टि में व्यापकता के साथ विविधता और खुलापन है। मार्क्सवादी आलोचकों में डॉ० रामविलास शर्मा की दृष्टि सबसे अधिक पैनी, प्रौढ़, स्वच्छ और तलस्पर्शी है। सैद्धांतिक समीक्षा के परिप्रेक्ष्य में उन्होंने साहित्य के लिए प्रमुख मानदण्डों की स्थापनाएँ की है। वे साहित्य के विभिन्न अंगों और माध्यमों पर बड़ी गंभीरता के साथ अध्ययनपूर्वक अपना मत प्रस्तुत करते हैं। उनके द्वारा स्थापित साहित्य के विभिन्न मानदण्डों में से 'साहित्य का प्रयोजन' पर बड़े मनोयोग और सूक्ष्मता से विचार किया है।

डॉ० रामविलास शर्मा साहित्य का प्रयोजन समाज के लिए ही स्वीकार करते हैं। वे मानते हैं यदि समाज वर्ग विभाजित होगा तो कला और साहित्य का सृजन भी वर्गवादी ही होगा। सच्ची कला अथवा साहित्य तब उत्पन्न होगा जब समाज साम्यवादी बन जाएगा। वे कला अथवा साहित्य को सामाजिक वर्गवाद से बाहर निकालकर उसे अस्त्र के रूप में उपयोग करके पूरी सामंतवादी एवं पूँजीवादी व्यवस्था के उत्पीड़न को समाप्त करने के रूप में प्रयोग करते हैं। 'साहित्य का उद्देश्य थोड़े से गिने-चुने संपत्तिशील लोगों का मनोरंजन करना न होना चाहिए, बल्कि उसे जनता के आर्थिक और राजनीतिक संघर्ष से नाता जोड़ना चाहिए, जो नए समाज का निर्माण करने की क्षमता रखती है और पुरानी व्यवस्था के उत्पीड़न को खत्म करने को लड़ रही है।''[३] डॉ० शर्मा साहित्य में अश्लीलता, निराशावाद एवं प्रयोगवादी मान्यताओं के कट्टर विरोधी हैं, क्योंकि वह व्यक्ति और समाज के यथार्थ संबंधों पर पर्दा डालते हैं। शोषण को स्पष्ट होने से बलपूर्वक रोकते हैं। ऐसे साहित्य का विरोध करके वह प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकताओं का

अनुभव करते हैं– 'ऐसा साहित्य जो हमारे राष्ट्रीय गौरव के अनुरूप हों और जिसे हम वास्तव में जनता का साहित्य कह सकें।'[४] वे उसी साहित्य का समर्थन करते हैं जो जनता की तरफदारी का साहित्य हो।

डॉ० शर्मा साहित्य को लोकमंगल की दृष्टि से परखने के पक्षपाती हैं, चाहे साहित्य का अभिव्यक्ति पक्ष हो या वस्तुपक्ष। उनका स्पष्ट मानना है कि वही साहित्य उपयोगी व अर्थवान होगा जिसमें लोक मंगल की कामना की गई हो, इसलिए उनके प्रिय कवि तुलसीदास, प्रिय लेखक प्रेमचंद रहे हैं क्योंकि उनके साहित्य में पूर्णतः लोक मंगल की कामना के साथ सामंतवादी एवं पूँजीवाद के विरुद्ध विद्रोह के दर्शन होते हैं और डॉ० शर्मा इसे साहित्य की आवश्यकता एवं उपयोगिता स्वीकारते हैं। वे साहित्य की आवश्यकता के अतिरिक्त उसकी विशिष्टता की ओर ध्यान दिलाते हुए लिखते हैं– ''साहित्य के लोकमंगल की अपनी विशेषता है, जिसमें वह नीति, विज्ञान, दर्शन आदि के लोकमंगल से भिन्न ठहरता है। साहित्य के लोकमंगल की यह विशेषता उसकी अभिव्यक्ति में भी है और उसके आंतरिक गठन में भी यह विशेषता साहित्य के रूप में भी है, उसकी विषय वस्तु में भी।''[५]

डॉ० शर्मा, आचार्य शुक्ल की लोकमंगल की कामना को अपनाते हुए उन्हीं की समीक्षा प्रणाली पर चलकर उनके स्वर में स्वर मिलाकर अपनी मान्यताओं को स्पष्ट करते हैं। वे आगे साहित्य के प्रयोजनीयता पर विचार करते हुए लिखते हैं– ''साहित्य मनुष्य की भावनाओं को जगाता है, उसकी पुष्टि करता है और परिष्कार भी। साहित्य का प्रभाव अपने भावमूलक स्वभाव के कारण दर्शन और विज्ञान की अपेक्षा अधिक पड़ता है। वह मनुष्य को श्रेष्ठ विचार देता है और उन्हें कार्यरूप में परिणत करने की प्रेरणा भी। वह हमारे मनोबल को दृढ़ करता है, हमारा चरित्र बनाता है। यही साहित्य की सबसे बड़ी उपयोगिता है।''[६]

उक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है कि वे साहित्य में प्रयुक्त भावनाओं का आशय सामूहिक भावनाओं से लगाते हैं, जिससे मनुष्य में श्रेष्ठ विचारों का प्रतिपादन हो सके और एक उच्च चरित्र का निर्माण हो सके। वे साहित्य में भावनाओं को स्थान देते हैं, जिससे साहित्य में स्थूलता अथवा नीरसता न आ सके और वह दर्शन और विज्ञान से अपनी अलग विशिष्ट छवि निर्मित कर सकने में सफल रहे।

साहित्य के प्रयोजन को लेकर एक प्रश्न उसकी अभिव्यक्ति पक्ष से भी जुड़ा है। प्रगतिवादी समीक्षा के अंतर्गत भाषा, छंद आदि को लेकर स्पष्ट मान्यता है कि वह अपनी स्वाभाविकता के साथ साहित्य में उपस्थित होना चाहिए। डॉ० रामविलास शर्मा कला अथवा साहित्य के अभिव्यक्ति पक्ष के परिप्रेक्ष्य में प्रगतिवादियों की भर्त्सना भी करते हैं कि जो केवल तथ्य को महत्व देते हैं और अभिव्यक्ति पक्ष को नगण्य मानकर कलाकृतियों को असंतुलित बना देते हैं। साथ ही उन्होंने इसी तरह अतिव्यक्तिवादी अनुभूतियों को विकृत कला के द्वारा साकार करने वाले प्रयोगवादियों को लताड़ा है। कला को ही प्रमुखता प्रदान करने वाले कलावादी साहित्यकार कला को जीवन से असंपृक्त मानने के कारण उनकी आलोचना के मुख्य विषय रहे हैं। इस प्रकार की कला अराजकतावादी बन जाती है। जिससे न आनंद मिलता है न समाज का हित होता है। वे लिखते हैं– ''कला के ऊपर सामाजिक प्रभावों को नियम न मानने से अंत में कला भी अराजक बन जाएगी और न तो उसमें समाज हित होगा और न आनंद–लाभ ही होगा।''[७]

वे साहित्य में ऐसी भाषा के पक्षपाती हैं जो सामान्य व्यवहार की हो। उनका मानना है कि साहित्य सामान्य जनता के लिए होता है। सामान्य जनता भाषा को समझ नहीं पाएगी तो साहित्य का मुख्य उद्देश्य ही अपूर्ण रह जाएगा। भाषा के संबंध में उनकी धारणा है कि वह समाज के साथ विकसित होकर चलती है। डॉ० शर्मा ने जनवादी दृष्टि अपनाई है। उनके अनुसार– ''जनसंपर्क से भाषा सफल होती है। साहित्य में जनता की भाषा का ही प्रयोग होना चाहिए। नागरिक बनाव–शृंगार और टीप–टाप से उसकी शक्ति क्षीण होती है। भाषा के क्षेत्र में बहिष्कार की नीति अनुचित हैं।''[८] जिस तरह से वह संपूर्ण साहित्य को

जनोपयोगी मानते हैं, उसी प्रकार साहित्य के प्रत्येक अंग का संबंध जनता से ही स्वीकारते हैं और कहते हैं– ''भाषा का स्वरूप सरल और व्यावहारिक होना चाहिए, क्योंकि वह आम जनता के काम की वस्तु है।''[९] वे हिन्दी-उर्दू भाषा के विवादों को भी सुलझाते हैं, वे भाषा के संस्कृतकरण और फारसीकरण के तीव्र विरोधी हैं। वे शब्दों को आवश्यकतानुसार ग्रहण करने पर बल देते हैं जिससे साहित्य के संप्रेषण में सुविधा उत्पन्न हो सकें और वह अधिक समुन्नत और उपयोगी बन सके। वह वास्तव में भाषा का राष्ट्रीयकरण कर एक भाषा बनाने के प्रबल पक्षपाती हैं वे कहते हैं– ''भाषा किसी समाज के व्यवहार का माध्यम होती है। उसे समाज के सभी लोग, उनका धर्म अलग होने पर भी एक ही भाषा में काम में लाते हैं।''[१०] भाषा की लोकतांत्रिक प्रकृति के साथ ही डॉ० शर्मा ने उसी काव्यानुकूलता पर भी विचार प्रकट किया है। वे भावों और विचारों को मूर्त रूप देने के लिए उचित से उचित शब्दों के चुनाव पर बल देते हैं। इस प्रकार डॉ० शर्मा अपने भाषा पक्ष को लेकर व्यावहारिक और जनवादी दृष्टि रखते हुए साहित्य के इस पक्ष को भी प्रयोजन की दृष्टि से उपयोगी बनाते हैं।

छंदों के संबंध में उन्होंने माना है कि छंदों से काव्य की शक्ति बढ़ जाती है। वे कहते हैं– ''काव्य में उन छंदों के प्रयोग से अधिक शक्ति आ जाती है, जिनका प्रयोग तत्कालीन में रहा होता है। संतों की लोकप्रियता बताते हुए वह कहते हैं कि संतों ने अधिकतर भजन रचे, जो जनता में गाए जाते थे और आज भी गाए जाते हैं और काव्य का यह समन्वय उनकी लोकप्रियता का एक कारण था।''[११] उनके छंद संबंधी दृष्टिकोण से स्पष्ट होता है कि वे छंद का साहित्य में प्रयोग व्यावहारिक और उपयोगी दृष्टि से करते हुए साहित्य को जनता के लिए बनाने को हेतुवर्तमान में प्रचलित छंदों को अपनाने का आग्रह करते हैं।

अंततः कहा जा सकता है कि साहित्य के प्रयोजन के प्रश्न को लेकर डॉ० शर्मा प्रगतिवादी समीक्षा के मानदण्डों के प्रति पूर्ण रूप से प्रतिबद्ध हैं। वे साहित्य का प्रयोजन जनता के लिए स्वीकारते हैं और ऐसे साहित्य के पक्षपाती हैं, जिसमें साहित्य किसी वर्ग की थाती न हो बल्कि आम जनता के लिए संघर्ष की भावना जगाए। वे साहित्य के प्रयोजन का मूल जनता के लिए उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु तथा राष्ट्रीय गौरव के लिए स्वीकारते हैं। वे मानते हैं कि साहित्य मनुष्य में श्रेष्ठ विचार, भावना को भरते हुए उच्च चरित्र का निर्माण करें और यही साहित्य की उपयोगिता होगी। डॉ० शर्मा प्रगतिवादी समीक्षा के भाषा सिद्धांत को स्वीकारते हुए भाषा के प्रयोग में सामान्यजन तथा प्रचलित भाषा का समर्थन करते हैं। जिससे साहित्य की उपयोगिता को बल मिलता है और ठीक इसी प्रकार छंद की मान्यता को स्वीकृति देते हैं कि ऐसे छंदों का साहित्य में समावेश हो, जिससे साहित्य की उपयोगिता बढ़ सके और सामान्यजन में साहित्य समझ और वैचारिक स्तर पर उपलब्ध हो सकें।

संदर्भ सूची :

१. डॉ० विश्वनाथ त्रिपाठी : हिन्दी आलोचना, पृ० १७९
२. डॉ० देवराज उपाध्याय : लेनिन और साहित्य : हंस सितम्बर, १९३८
३. डॉ० रामविलास शर्मा : प्रगति और परम्परा, पृ० ४०
४. डॉ० रामविलास शर्मा : प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ, पृ० १५२
५. डॉ० रामविलास शर्मा : लोकजीवन और साहित्य, पृ० ९
६. डॉ० रामविलास शर्मा : पृ० ११
७. डॉ० रामविलास शर्मा : प्रगति और परम्परा, पृ० १२६
८. डॉ० रामविलास शर्मा : भारतेन्दु युग, पृ० १६६
९. डॉ० रामविलास शर्मा : लोकजीवन और साहित्य, पृ० ११५
१०. डॉ० रामविलास शर्मा : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, पृ० १४९-५२
११. डॉ० रामविलास शर्मा : लोक जीवन और साहित्य, पृ० ३१

***

रामायण-युगीन वन प्रदेश

डॉ० महेन्द्र कुमार उपाध्याय*
डॉ० प्रतिमा कुमारी शुक्ला**

वाल्मीकीय रामायण में वर्णित पर्वत, नदी, सागर, वन, सरोवर, जनपद, नगर, ग्राम आदि के विवरण से यह स्पष्ट होता है, कि महर्षि वाल्मीकि का भौगोलिक ज्ञान अत्यन्त व्यापक था। सुग्रीव सीताजी की खोज के निमित्त अपनी सेना को चार भागों में विभाजित कर चारों दिशाओं में भेजते हैं। खोज सम्बन्धी इन वर्णनों से भारत, आधुनिक पाकिस्तान, बर्मा, लंका, दक्षिणी पूर्वी एशिया आदि देशों के विभिन्न जनपदों, पर्वतों, नदियों के विवरण प्राप्त हो जाते हैं। महर्षि विश्वामित्र जी श्रीराम-लक्ष्मण के साथ अयोध्या से सिद्धाश्रम और फिर मिथिला की यात्रा करते हैं। इस यात्रा द्वारा उन प्रदेशों के पर्वतों एवं नदियों के विवरण भी प्राप्त हो जाते हैं। वशिष्ठ जी द्वारा प्रेषित दूत, अयोध्या से केकय प्रदेश, गिरिव्रज (आधुनिक पंजाब) तक यात्रा करते हैं, उस यात्रा के मध्य स्थित पर्वत, नदी, जनपद, नगर, ग्राम का उल्लेख प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार श्रीराम-लक्ष्मण की वन यात्रा द्वारा, जो अयोध्या से आरम्भ होकर चित्रकूट, दण्डकारण्य, पंपा, किष्किन्धा से होती हुई लंका तक पूर्ण होती है। इन समस्त स्थलों में से यहाँ वन प्रदेशों को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है-

सालवन- रामायण के अनुसार पूर्व दिशा में अयोध्या के आगे वन प्रदेश 'सालवन'१ कहलाता था। जो बड़ा ही भयंकर एवं विस्तृत था। केकय प्रदेश से लौटते हुए भरत अपनी सेना के साथ, रथ द्वारा पूरी एक रात में इस विशाल वन को पार कर अयोध्या पहुँचते हैं। आधुनिक सन्दर्भ में यह कुशीनारा प्रदेश का प्रसिद्ध वन था। -

एकसाले स्थाणुमतीं विनते गोमतीं नदीम्।
कलिंगनगरे चापि प्राप्य सालवनं तदा।।

नन्दनवन- रामायण काल का यह एक अति विशाल एवं दुर्गम वन था, जिसे रावण ने अपने पराक्रम से चैत्ररथवन के साथ नष्ट-भ्रष्ट कर डाला था, बाद में दस हजार वर्ष तक इसी महावन में रावन ने घोर तपस्या की। यह एक अतिरमणीय एवं सुन्दरवन था जिसकी सुन्दरता का वर्णन रामायणोत्तर संस्कृत साहित्य में उपमा के रूप में दिया जाता रहा। यह वन उत्तर दिशा में विद्यमान था। रामायण के अनुसार 'नन्दनवन'[२] कुबेर के प्रसिद्ध वन का नाम था।

वनं चैत्ररथं दिव्यं नलिनीं नन्दनं वनम्।।
विनाशयति यः क्रोधाद् देवोद्यानानि वीर्यवान।

पिप्पलीवन- भारत के दक्षिण में 'विशाल पिप्पली वन'[३] विद्यमान था जिसमें ऋषि अगस्त का

---

* सहायक आचार्य, इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, ज०रा०वि०वि० चित्रकूट (उ०प्र०)
** सहायक आचार्या, इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, ज०रा०वि०वि० चित्रकूट (उ०प्र०)

आश्रम था। श्रीराम के शब्दों में यह वन अति सुन्दर एवं अनेकविध वृक्षों, नदी, सरोवरों से आपूर्ण था। फलों एवं पुष्पों की प्रचुरता थी तथा विविध भाँति के पक्षियों के मधुर कलरव से गुंजायमान था।

स्थलीप्रायवनोद्देशे पिप्पलीवनशोभिते।
बहुपुष्पफलेरम्ये नानाविहगनादिते।।

पिप्पल की अधिकता के कारण यह वन 'पिप्पली'[४] वन कहलाता था। यह भी दक्षिण भारत का कोई वन प्रदेश था।

पिप्पलीनां च पक्कानां वनादस्मादुपागतः।
गन्धोऽयं पवनोत्क्षिप्तः सहसा कटुकोदयः।।

दण्डकारण्य- दक्षिण भारत का यह एक अति विशाल एवं भयंकर वन था, जिसके अन्तर्गत चित्रकूट से लेकर गोदावरी तक का वन प्रदेश था। विद्वानों के अनुसार महाराष्ट्र प्रदेश की वन-स्थली का नाम 'दण्डकारण्य'[५] था। चित्रकूट से भरत को विदा करने के पश्चात् श्रीराम अनसूया-आश्रम से होते हुए भयंकर 'दण्डकारण्य' में प्रवेश करते हैं। यह महावन अनेक प्रख्यात् ऋषि-मुनियों से सुशोभित था। श्रीराम दण्डकारण्य में प्रवेश करते ही आश्रम के सम्मानार्थ अपने धनुष को उतार लेते हैं।

प्रविश्य तु महारण्यं दण्डकारण्यमात्मवान्।
रामो ददर्श दुर्धर्षस्तापसाश्रममण्डलम्।।

श्रीराम इस वन में विभिन्न प्रकार के तपस्वियों से भेंट करते हैं और विघ्नों से उनकी रक्षा करने की प्रतिज्ञा करते हैं। इसी महावन में विराध राक्षस रहता था। जिसका श्रीराम ने वध किया था। श्रीराम इस वन में लगभग दस वर्षों तक निवास किये थे।

क्रौंचारण्य- श्रीसीता वियोग से दुःखी श्रीराम उनको ढूँढ़ते हुए क्रौंचारण्य में प्रवेश करते हैं। रामायण के अनुसार क्रौंचारण्य दक्षिण दिशा में जनस्थान से तीन कोस दूरी पर स्थित था। मेघ खण्डवत् यह वन सब ओर से प्रसन्न प्रतीत पड़ता था। वहाँ अनेक प्रकार के सुन्दर, फल-पुष्प, पशु और पक्षी वर्तमान थे।[६] यह वन पूरा लगभग तीन कोस में पड़ता था।

नैमिषारण्य- रामायण युग का यह प्रसिद्ध तपोवन था, जहाँ अनेक ऋषि-तपस्वी अपनी धार्मिक साधना में लीन रहते थे। यह वन बड़ा ही मनोहर एवं तपोसाधना के उपयुक्त माना जाता था। गोमती नदी के तट पर यह स्थित था, जो आधुनिक लखनऊ से पैंतालीस मील उत्तर पश्चिम में पड़ता है।[७]

मतंगारण्य- भारत के दक्षिण दिशा में ऋष्यमूक पर्वत के समीप पंपासर के पश्चिमी तट पर स्थित, एक विशाल वन था, जो मतंग ऋषि द्वारा लगाए जाने के कारण 'मतंगारण्य'[८] कहलाता था। इस वन के समीप ऋष्यमूक पर्वत था। जहाँ मतंगाश्रम में निवास करने वाले हस्तिशावकों के कलरव की मधुर ध्वनि श्रवणगोचर होती थी। इसी वन में शबरी नामक वृद्धा निरन्तर अपनी-अपनी धार्मिक साधना में निरत रहती थीं।

मतंगवनमित्येव विश्रुतं रघुनन्दन।
तस्मिन् नन्दनसंकाशे देवारण्योपमे वने।।
नानाविहगसंकीर्णे रंस्यसे राम निर्वृतः।

पुष्करवन- पश्चिम दिशा में विशाला पुरी के समीप 'पुष्करवन'[९] था, जहाँ विश्वामित्र ने भीषण तपस्या की थी। यह वन अन्य प्रकार के विघ्नों से रहित था, अतः विश्वामित्र इसी वन में निर्विघ्न रूप से तप करने का विचार करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि यह वन वर्तमान पुष्कर के समीप ही कहीं विद्यमान था।

पश्चिमायां विशालायां पुष्करेषु महात्मनः।
सुखं तपश्चरिष्यामः सुखं तद्धि तपोवनम्।।

पंचवटी- नासिक के पास का समस्त भू-भाग 'पंचवटी'[१०] कहलाता है। यह विशाल वन-प्रदेश अपनी रमणीयता के लिए विख्यात था। इसी वन से होकर प्रसिद्ध गोदावरी नदी बहती थी, जिसके दोनों तट भाग पुष्पित वृक्षों से सुशोभित थे। इस पर्वत पर स्वर्ण, रजत, ताँबे आदि धातुओं को ढूँढ़ने के लिए व्यापारी लोग आते रहते थे। वन में जहाँ-तहाँ स्थित साल, ताल, तमाल, चन्दन, स्यन्दन, नीम, पनस, धव, अश्वकर्ण, खादिर, शमी, किंशुक, पाटल आदि वृक्षों द्वारा समस्त पर्वत एवं वन-भूमि आच्छादित थी। एसे सुन्दर वन में महर्षि अगत्स्य श्रीराम को अपने वनवास की शेषावधि व्यतीत करने की आज्ञा देते हैं। उनकी आज्ञा को शिरोधार्य करके राम पंचवटी में पहुँचते हैं। वन की रम्यता को देखकर उनका हृदय आह्लादित हो जाता है और वे, लक्ष्मण को पर्णशाला बनाने का आदेश देते हैं। पर्णशाला का निर्माण हो जाने पर, श्रीराम उसी स्थान पर सुखपूर्वक अपने वनवास की अवधि व्यतीत करने लगते हैं। यहीं शूर्पणखा श्रीराम के अलौकिक रूप पर मुग्ध होकर, सुवेश धारण कर उनसे विवाह का प्रस्ताव रखती है। तदनन्तर क्रूर रावण पंचवटी से ही सीता जी का अपहरण कर लेता है।

आगताः स्म यथोदिष्टं यं देशं मुनिरब्रवीत्।
अयं पंचवटीदेशः सौम्य पुष्पितकाननः।।

शखर- यह उत्तर दिशा में विद्यामन एक विशाल वन प्रदेश था, जिसमें अधिकांशतः मूँज उत्पन्न होते थे जिनके कारण 'शरवर'[११] कहलाता था। इसे स्वामी कार्तिकेय का उत्पत्ति स्थल कहा गया है। यह विशाल वन, पर्वत पर विद्यमान था, जिसके शिखर भाग अत्यन्त उच्च थे। इसके ऊँचे शिखरों के आगे रावण का पुष्पक विमान रुक जाता है।

स जित्वा धनदं राम भ्रातरं राक्षसाधिपः।
महासेन प्रसूतिं तद् ययौ शरवणं महत्।।
यथा पश्यद् दशग्रीवो रौक्मं शरवणं महत्।
गभस्तिजालसंवीतं द्वितीयमिव भास्करम्।।

इस प्रकार लंका के समीपस्थवन प्रदेश का भी महर्षि वाल्मीकि ने बड़े विस्तार के साथ सुन्दर वर्णन किया। इन वर्णनों को पढ़कर वनों का साक्षात् दृश्य नेत्रों के सम्मुख उपस्थित हो जाता है। इस प्रकार रामायण युग में दक्षिणभारत का अधिकांश भू-भाग वनों से व्याप्त था। जिसे श्रीराम अपनी वन यात्रा के मध्य पार करते हैं। ये वन बड़े ही भीषण एवं दुर्गम थे तथा नानाविध क्रूर, असुर, राक्षसों एवं हिंसक पशुओं से व्याप्त थे। किन्तु विभिन्न ऋषियों ने अपने तप के प्रभाव से उन भयंकर वनों को मनुष्यों के निवास योग्य बनाया था। इस वन प्रदेश में विद्यमान कुछ प्रसिद्ध वनों का नामोल्लेख तो रामायण में हुआ है, किन्तु अधिकांश को 'दुर्गमवन' कह दिया गया है।[१२]

सन्दर्भ सूची :

१. वा०रा० २/७१/१६ — २. वा०रा० ३/३२/१५-१५)
३. वा०रा० ३/११/३८ — ४. वा०रा० ३/११/४९
५. वा०रा० ३/१/१ — ६. वा०रा० ३/६५/३-७
७. वा०रा० ७/८२ — ८. वा०रा० ३/७३/३०-३०)
९. वा०रा० १/६१/३ — १०. वा०रा० ३/१५/२
११. वा०रा० ७/१६/१-२ — १२. डॉ० मंजुला जायसवाल- वाल्मीकि युगीन भारत, पृ० ५६-५९

***

दलितों के मुक्तिदाता : महात्मा ज्योतिबा फुले

डॉ० सरोज गुप्ता*
संग्राम सिंह**

शोषण के विरुद्ध जेहाद छोड़ने वाले जोतीराव गोविन्द राव फुले उन्नीसवीं सदी की उपज हैं। सारा संसार उन्हें 'ज्योतिबा' और 'महात्मा फुले' के नाम से भी जानता है। उन्होंने शिक्षा-प्रसार के माध्यम से स्त्रियों, दलितों, शूद्रादि-अतिशूद्रों के मनोबल को बढ़ाने और उनमें आत्म विश्वास जगाने का अप्रितम सफल प्रयास किया। महात्मा फुले अपने ढंग से अपेक्षितों, अधिकार वंचित दलितों और गरीबों को जगाना चाहते थे। वह सामाजिक व्यवस्था में आमूल-चूल परिवर्तन के इच्छुक थे। इसीलिए वे जीवन भर जूझते रहे, संघर्ष करते रहे।

महात्मा फुले ही ऐसे युगपुरुष थे, जिन्होंने अपने शैक्षणिक क्रिया-कलापों और सत्य- शोधक समाज के माध्यम से दलित-पिछड़े समाज की मुक्ति के लिए संघर्ष किया और अगुआई की। उन दिनों वह ऊँचे से ऊँचे पद को प्राप्त कर सकते थे, आराम से रह सकते थे। अपनी आने वाली पीढ़ियों के लिये सुख-सुविधाएँ जुटा सकते थे। लेकिन नहीं, उन्होंने अन्धविश्वासों, धार्मिक रूढ़िवादिता, पुरोहितवाद, संकीर्ण विचारों, ब्राह्मणी कर्म-काण्ड, अस्पृश्यता आदि सभी सामाजिक बुराइयों का डटकर विरोध किया।[१]

महात्मा फुले ने समाज के उपेक्षितों-दलितों और निम्न जातियों में शिक्षा और सामाजिक जागृति की लहर फैलाई उनके चिन्तन और कर्म में कोई अन्तर नहीं था। उन्होंने दीन-दलितों की सेवा को अपना परम कर्तव्य समझा। ज्योतिबा भलीभाँति जानते थे कि शिक्षा ही एक ऐसा माध्यम है जो सामाजिक परिवर्तन कर सकती है।[२]

महात्मा फुले का विचार है कि सामाजिक विषमता की जड़ों को उखाड़ फेंकने में शिक्षा ही कारगर है। अच्छी शिक्षा के बगैर सामाजिक समता और सामाजिक न्याय स्थापित करना मुश्किल है। सामाजिक सुधार की पक्की नींव का होना केवल शिक्षा पर ही निर्भर है। इसीलिए महात्मा फुले जाति, धर्म, लिंग और शारीरिक तथा मानसिक विकलता की कोई रुकावट डाले बिना शिक्षा का प्रसार करना चाहते थे। समाज के हर व्यक्ति को समानता के आधार पर शिक्षा देने का भाव समाहित किया।

भारतीय संविधान की धारा ४५ में सार्वत्रिक, मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा का उल्लेख किया गया है। इस धारा में स्पष्ट रूप से बताया गया है कि भारतीय संविधान अमल में आने के १० साल बाद समूचे

* रीडर, लोक शिक्षा एवं जनसंचार विभाग, म०गां०चि०ग्रा० वि०वि०, चित्रकूट, सतना (म०प्र०)
** शोध छात्र, शिक्षा संकाय, म०गां०चि०ग्रा० वि०वि०, चित्रकूट, सतना (म०प्र०)

भारत में हर बच्चे को उसके उम्र के १४ साल तक मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा प्रदान करनी होगी। संविधान की धारा ४५ यह शिक्षा में समानता लाने के तात्विक प्रणाली की विजय थी जिसके बारे में महात्मा ज्योतिबा फुले अक्सर सोचा करते थे।

निःशुल्क और अनिवार्य बाल शिक्षा का अधिकार अधिनियम-२००९ जम्मू और कश्मीर को छोड़कर देश के अन्य सभी राज्यों में १ अप्रैल, २०१०, से ६ से १४ वयवर्ग के बच्चों के लिए लागू हो चुका है। विश्व में ऐसे बहुत कम देश हैं जहाँ बच्चों को निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा देने की राष्ट्रीय व्यवस्था लागू है। इस दृष्टि से यह अधिनियम भारत को प्रारम्भिक शिक्षा के क्षेत्र में सहस्त्रादि विकास लक्ष्यों को प्राप्त करने की आधार भूमि उपलब्ध करा रहा है। इस अधिनियम में ६ से १४ वर्ष की आयु के हर बच्चे को निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा प्रदान करने के लिये विभिन्न प्रावधान एवं उन प्रावधानों को पूर्ण करने के लिए कर्तव्य एवं दायित्व निर्धारित है।

ऐतिहासिक दृष्टि से १८७० ई० में ब्रिटेन में अनिवार्य शिक्षा अधिनियम पारित होने के उपरान्त सर्वप्रथम हर एक बच्चे को निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा प्रदान करने की माँग ज्योतिबा फुले द्वारा १८८२ ई० में हण्टर कमीशन से की गई थी।[३] १९०६ में इम्पीरियल लेजिस्लेटिव एसेम्बली से श्रीगोपालकृष्ण गोखले द्वारा भारतीय बच्चों को निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा का अधिकार प्रदान करने की माँग की गई, किन्तु उन्हें भी सफलता नहीं मिली। १९३७ में महात्मा गाँधी ने वर्धा में राष्ट्रीय शिक्षा परिषद् की बैठक में सभी बच्चों के लिए सार्वभौमिक शिक्षा का प्रस्ताव रखा गया किन्तु वित्तीय संसाधनों के अभाव का कारण बताकर बच्चों को यह अधिकार प्रदान नहीं किया गया। १९४८-४९ ई० में संविधान सभा के समझ यह प्रश्न उत्पन्न हुआ किन्तु संविधान सभा की सलाहकार समिति ने इसे मौलिक अधिकार न मानते हुये नीति निर्देशक सिद्धान्त की सूची में स्वीकार किया गया। इस प्रकार से नीति निर्देशक सिद्धान्त के अनुच्छेद-४५ के तहत् निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा का प्रावधान किया गया।

महात्मा फुले ने शिक्षा-प्रसार के क्षेत्र में एक क्रान्तिकारी पहल की थी। उनके प्रयास और सफलता की प्रशंसा प्रगतिशील ब्राह्मणों ने भी की और कइयों ने तो धन-जन-मन से मदद की। महात्मा फुले ने दृढ़संकल्प को देखकर तत्कालीन राजनीतिज्ञ परमानन्द ने लिखा है– ''एक मराठा व्यक्ति ने अपनी पत्नी को पढ़ा-लिखाकर उससे ब्राह्मणों की लड़कियों को पढ़ाने-लिखाने का प्रयास उनके गढ़ में जाकर किया। उन दिनों, यह एक अभूतपूर्व साहसिक अभियान था। लेकिन उनके गढ़ में रहकर अछूतों के लिये पाठशालाएँ खोलना और उन्हें समाज का संघटक बनाना, शेर की माँद में घुसकर उसकी खाल उखाड़ने जैसा कार्य था।''[४]

महात्मा फुले ने 'किसान का कोड़ा' नाम की एक पुस्तिका लिखी जिसके शुरू में ही शिक्षा के मूल्य महत्व को समझाया है–

विद्या बिना मति गयी। मति बिना नीति गयी।
नीति बिना गति गयी। गति बिना वित्त गयी।।
वित्त बिना शूद्र टूटे। इतने अनर्थ। एक अविद्या ने किये।।[५]

शूद्रातिशूद्र और महिलाओं को शिक्षित होने के लिए उन्होंने नारा दिया था और इसी शीर्षक की एक कविता लिखी थी।

'जागो पढ़ो लिखो।
उठो अतिशूद्र भाइयो, जागो।

पारम्परिक गुलामी को तोड़ने तैयार हो जाओ।
भाइयों पढ़ने लिखने के लिये जागो।[६]

महात्मा फुले ने शिक्षा के माध्यम से सामाजिक चेतना को जगाने का काम किया है। उन्होंने सत्य का मार्ग उन लोगों को दिखाया, जिनकी प्रगति के मार्ग बन्द कर दिये गये थे और जिनकी आभा सदा-सदा के लिये मिटा दी गई थी। उन्होंने मानसिक रूप से मंद और आर्थिक रूप से पंगु बनाये गये समाज में क्रान्ति का बीज बोया। उन्होंने भारतीय समाज की वर्ण-व्यवस्था और जाति-व्यवस्था का सूक्ष्म अवलोकन करके वैज्ञानिक और क्रान्तिकारी विचार प्रस्तुत किये। उनके विचार यथार्थ, तर्क-संगत, मानवतावादी और क्रान्तिकारी हैं। उन्होंने परम्परागत विषमतावादी समाज-व्यवस्था की कटु आलोचना करके समतामूलक विचार दिया।

१९वीं सदी में महात्मा फुले द्वारा बोया गया सामाजिक क्रान्ति का बीज आज भी प्रासंगिक है। उनका विचार और कार्य केवल सामाजिक सुधार तक ही सीमित नहीं था। उनका विचार भारतीय समाज की दृष्टि से भी क्रान्तिकारी था। उन्होंने नई समाज-व्यवस्था की कल्पना स्पष्ट रूप से प्रस्तुत की थी। उन्होंने समानता, स्वतंत्रता, भाईचारा और न्याय इन मानवतावादी मूल्यों पर आधारित सामाजिक व्यवस्था की हिमायत की थी। उन्होंने सत्य आचरण पर विशेष बल दिया था। क्योंकि समाज व्यक्ति के संबंधों का जाल है और यह सामाजिक संबंधों का जाल व्यक्ति के व्यवहार से बुना जाता है। यदि अच्छा व्यवहार करने वाला व्यक्ति होगा तो अपने आप ही अच्छे सामाजिक संबंध स्थापित होंगे। फुले ने वर्ण तथा जाति व्यवस्था, हिन्दू धर्म ग्रन्थ, ब्राह्मणशाही, शूद्र-अतिशूद्र, नारी, किसान, शिक्षा जैसे अत्यन्त महत्वपूर्ण विषयों के संबंध में अपने मौलिक विचार प्रस्तुत किये और प्रत्यक्ष रूप से कार्य भी किया। इसीलिए महात्मा ज्योतिबा फुले को भारतीय सामाजिक क्रान्ति का अग्रदूत, दलितों का मुक्तिदाता, भारतीय नारी शिक्षा का जन्मदाता, नारी शिक्षण संस्थान के प्रथम शिक्षक, कराहती-पीड़ित मानवता का उद्धारक, अहिंसा का पावन पुजारी, सर्वहारा वर्ग का महानायक, राष्ट्रपिता ज्योतिबा फुले कहा जाता है।[७]

निष्कर्षतः कह सकते हैं कि महात्मा ज्योतिबा फुले दलितों के मुक्तिदाता हैं, जिन्होंने आधुनिक युग में सामाजिक क्रान्ति का विचार सबसे पहले दुनिया के सामने रखा। उन्होंने किसान, श्रमिक, बहुजन समाज, दलित और महिलाओं पर हो रहे अन्याय के खिलाफ आवाज उठाई व विभिन्न जातियों और पंथों के लोगों को भाईचारे की नसीहत दी। उन्होंने शिक्षा को सामाजिक परिवर्तन और विकास का एक महत्वपूर्ण माध्यम बताया है। शिक्षा ही किसी व्यक्ति, समाज अथवा देश की प्रगति को निर्णायक दिशा देती है। इसीलिए महात्मा फुले की दृष्टि में जब तक अविद्या और अज्ञान का अन्त नहीं हो जाता, तब तक व्यक्ति, समाज और देश का समान विकास असम्भव है।

सन्दर्भ सूची :

१. बौद्ध शान्ति स्वरूप- जोतिबा फुले की अमर कहानी, पृ० ११२
२. पवार, एन जी- भारतीय समाजक्रान्ति की विचारधारा और उसके प्रवर्तक, पृ० ५८
३. 'संवाद' राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा- २००५ और निःशुल्क एवं अनिवार्य बाल शिक्षा का अधिकार अधिनियम, २००९ के संदर्भ में शिक्षक हस्त पुस्तिका, सर्व शिक्षा अभियान, उ०प्र०, लखनऊ, पृ० ०९
४. आर्य जिया लाल- जोतीपुंज महात्मा फुले, पृ० ७०
५. आगलावे सरोज- जोतीराव फुले का सामाजिक दर्शन, पृ० १३३
६. आर्या जिया लाल- जोतीपुंज, महात्मा फुले, पृ० १५९
७. नरके हरि- महात्मा फुले : साहित्य और विचार, पृ० ६६

***

कलाकार का व्यक्तित्व और समाज का व्यवहार

डॉ० गुलाब धर*

संसार का कोई भी दर्शन या सिद्धान्त यह नहीं कह सकता कि वह अपने देश या समाज के जीवन को सुखी, समृद्धिशाली, प्रगतिशील नहीं बनाना चाहता। ऐसा करने के लिए देश के दार्शनिक, नेता, साहित्यकार वैज्ञानिक या कलाकार को अध्ययन करना पड़ता है, भविष्य की कल्पना करनी पड़ती है और नये-नये रास्ते खोजने पड़ते है। जब हम आज के जीवन से सन्तुष्ट नहीं हैं तो अधिक सुखमय या प्रगतिशील जीवन पाने के लिए हमें अपने भविष्य की कल्पना करनी पड़ती है। हम जानते हैं कि आज का भारतीय समाज सदियों से गुलामी में जकड़े रहने के कारण विकृत हो गया है, पिछड़ा रह गया है। यहाँ अविद्या है, गरीबी है, बेकारी है और तमाम खराबियाँ हैं। आज का भारत इन्हीं का प्रतीक बनकर रह गया है इसका तात्पर्य तो यह हुआ कि यदि कला तथा साहित्य अपने समय के समाज के दर्पण हैं तो उन्हें आज केवल इसी विकृत, रूप का चित्रण करना चाहिए। परन्तु इसका परिणाम क्या होगा, इन चित्रों में आज के समाज का विकृत कलुषित रूप देखकर समाज को क्या लाभ होगा सदियों के गुलामी के कारण सचमुच हमारे समाज के मुख पर एक कालिमा लग गयी थी और हमारा परम कर्त्तव्य बनता है कि उसे धोकर, साफकर डालें, तब आगे बढ़ने का प्रयास करें। इस दिशा में स्वतन्त्रता प्राप्त करना हमारा पहला कदम था। भौगोलिक दृष्टि से आज हम स्वतन्त्र हैं परन्तु सामाजिक दृष्टि से अब भी हम परतंत्र हैं। आज भी हमारे समाज का वही रूप है जो अंग्रेजी आधिपत्य के समय था, अब भी हम उनकी भाषा बोलते हैं उनके जैसे वस्त्र पहनते हैं और अपना वेश बनाये हुये हैं। हम उनकी नकल करने के लिए तत्पर हैं। इस दृष्टिकोण से भारत को अभी स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं हुई है। जब तक हमारा समाज अपने पैरों पर खड़ा नहीं होगा, अपनी बुद्धि का उपयोग नहीं कर पाता, अपने को पहचान नहीं पाता, तब तक वह गुलाम ही कहलायेगा और हमारी आँख पर पड़े पर्दे को यदि आज का कलाकार, साहित्यकार या वैज्ञानिक हटा नहीं सकता तो वह अपने कर्तव्य से विमुख होता है। परन्तु साहित्य का कार्य है– कलाओं को प्रेरणा देना। आज भी आधुनिक चित्रकला एक अनोखा रूप धारण कर रही है। दिनों-दिन उसका प्रचार भी अधिक बढ़ता जा रहा है। पर फिर भी हम उसका आनन्द नहीं ले पातें। इस प्रकार अनेक आधुनिक चित्रकार कार्य कर रहे हैं। न हम उनका नाम जान पाते हैं और न उनकी कला से ही परिचित हैं। साहित्य या कला किसी की निधि नहीं है। उस पर सबका अधिकार है। और सभी को कला का कार्य करने के लिए प्रेरणा की आवश्यकता है। एक ओर जब साहित्य का यह कर्तव्य है कि वह समाज को बताये कि पहले क्या हो चुका है, तो उसके अधिक महत्व की बात यह है कि भावी कलाकारों को प्रेरणा दे जिनके ऊपर हमारा भविष्य निर्भर करता है।[१]

लोगों का ख्याल है कि कला में आनन्द पाना सार्वजनिक नहीं है इसमें आनन्द उसी को मिल सकता है जो स्वयं कलाकार है या जिसने थोड़ा बहुत कला का अध्ययन किया है कला में प्रवीणता या उसमें रस

* सहायक आचार्य, चित्रकला-विभाग, ज०रा०वि०वि०, चित्रकूट (उ०प्र०)

पाना एक ईश्वरीय वरदान है यह कथन और सत्य होता है जब हम देखते हैं कि आधुनिक समाज में कला को क्या स्थान प्राप्त है? कलाकार जीवन भर रचना का कार्य करता है, पर अक्सर वह समाज में अपना स्थान नहीं बना पाता न समाज उसके परिश्रम का मूल्य देता है कला की साधना करना कलाकार के लिए जीवन से लड़ना है, कितने ही कलाकार अपने लहू से रचना करके मिट गये पर समाज उसे जानते तक नहीं, उनकी कला का रस लेना तो दूर रहा ऐसा समाज यह भी कहता है कि कला एक साधना है जिसके लिए मर मिटना कलाकार का कर्त्तव्य है। बिना बलिदान के कला प्राप्त नहीं हो पाती, इतना नहीं, लोगों को विश्वास है कि कलाकार उच्च रचना तभी कर सकता है जब दुनिया भर का दु:ख वह भोग ले और तड़पन की ज्वाला में भुजते हुए जब उसके मुँह से आह निकलने लगे तभी वह सफल रचना कर सकता है। शायद ऐसा समाज इस आह में सबसे अधिक रस पाता है।[२] ऐसे ही रोम का शासक विख्यात नीरो सबसे महान् व्यक्ति था और उसे कला की सबसे ऊँची परख थी। इसीलिए वह मनुष्य को खूँखार भूखे शेरों के कटघरों में डालकर उस व्यक्ति के मुँह से निकली हुई, आह का रसास्वादन सुनहले तख्त पर बैठकर, शराब की चुस्कियाँ लेता हुआ देखता था और तारीफ यह कि वह उसका आनन्द लेने के लिए अपने समाज के अन्य व्यक्तियों को भी निमंत्रित करता था। हजारों की तादात में लोग इकट्ठा होकर इस दृश्य का रसा स्वादन करते थे।

जरा कल्पना कीजिए कि आप कलाकार होते और नीरो के राज्य में जीवन निर्वाह करते होते एक दिन शेर के कटघरे में यदि आप डाल दिये जाते और शेर ने आपकी छाती में नुकीला पंजा चुभाता होता, उस समय नीरो आपको कवितापाठ करने की आज्ञा देता तो आपकी क्या दशा होती, नीरो तो एक व्यक्ति था कभी-कभी सारा समाज नीरो बन जाता है। यह सच है कि भावों के उद्वेग में ही कला की उत्पत्ति होती है परन्तु भाव से कलाकार पैदा नहीं होते कलाकार भाव पैदा करते हैं।[३] एक भूख से पूछिये कि कला कहाँ है तो कहेगा रोटी में, अन्धे से पूछिए तो कहेगा रोशनी में, राजा कहेगा महलों में, रंक कहेगा झोपड़ी में, राजनीतिज्ञ कहेगा राजनीति में, धार्मिक कहेगा धर्म में। अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति जैसी मनोवृत्ति होगी उसी रूप में वह अपने वातावरण को समझेगा कलाकार का भाव गुलाम नहीं होता, भाव कलाकार का गुलाम होता है। सच्ची कला की रचना तब होती है जब कलाकार कमल की भाँति कीचड़ में रहकर भी कीचड़ से ऊपर होता है और ऊपर रहकर भी अपनी जड़ उसी कीचड़ में रखता है, उससे ही अपनी शुराक लेता है अर्थात् सच्चा कलाकार वह है जो नीचे रहकर भी ऊपर को जान ले और ऊपर रहकर भी नीचे को पहचानता है, वह समदर्शी होता है वह भावों का गुलाम नहीं होता, भावों को उत्पन्न करता है। इसी प्रकार क्षणिक भावावेश में आकर बिना भलीभाँति मनन किये। उत्कृष्ट रचना नहीं हो सकती, अगर ऐसे समय रचना होती है तो वह स्वयं, नहीं होती। इस प्रकार यह समझना चाहिए कि सच्ची कला की रचना उसी समय हो सकती है जब कलाकार भूखा हो, दरिद्र हो और दुनियाँ की मुसीबतों से जर्जरित हो गया हो ऐसी भावना उन्हीं लोगों की होती है जो कलाकार से उसी प्रकार की आह सुनने को उत्सुक होते हैं, और जैसे नीरो मनुष्य को शेर के कटघरों में डाल कर सुनता था।

सच्ची और उत्कृष्ट कला की रचना उसी समय हो सकती है।[४] जब कलाकार का मन, मस्तिष्क और शरीर में सुडौलता रहती है। यदि एक कलाकार जिसको लाख कोशिश करने पर भी दोनों समय का खाना नहीं जुटता, कविता की रचना करना चाहे तो उसके मन में सुडौलता कभी नहीं रह सकती या तो वह भूख तड़पन से पीड़ित रचना करेगा और समाज के अन्य व्यक्तियों के प्रति आग उगलेगा या जिस प्रकार भूखा कुत्ता किसी को कुछ खाते देखकर जीभ तथा पूँछ हिलाता है। और लार टपकाता रहता है। दया का पात्र बनेगा- दूसरों को कुछ देना तो दूर रहा। सच्ची कला की रचना उसी समय हो सकती है, जब कलाकार

सुखी और सम्पन्न हो, हृष्ट-पुष्ट हो, सुन्दर विचार वाला हो, समाज से घृणा न करता हो, किसी के प्रति द्वेष न रखता हो, जीवन का मूल्य समझता हो। इसका यह तात्पर्य नहीं कि आज तक जितने उत्कृष्ट कलाकार हुये हैं उनको यह प्राप्त था मेरा तो यह कहना है कि अगर उनको यह सब भी प्राप्त होता तो और भी ऊँची कला का निर्माण हुआ होता और आज हमारा समाज और भी ऊँचे तथा सुन्दर धरातल पर होता। कलाकार एक घड़े के समान है, जैसा जिसका घड़ा होता है संसार से वह उतना ही उसमें भर पाता है। अगर घड़ा टेढ़ामेढ़ा है, फूटा हुआ है तो उसमें क्या रह सकेगा? यह साफ सुन्दर है, सुडौल, मजबूत तथा सुन्दर घड़ा ही अपने अन्दर बड़ी तथा सुन्दर वस्तु रखने की कल्पना कर सकता है। इस प्रकार उत्कृष्ट रचना के लिए यह आवश्यक है कि कलाकार हर प्रकार से सुडौल हो, विशाल व्यक्तित्व वाला हो, उसे किसी प्रकार की लालसा न हो, मस्त रहने वाला हो, इसी मस्ती में उससे कुछ उत्तम रचना की आशा की जा सकती है। कलाकार चिन्ता से रहित हो, ऐसे त्यागी के समान हो जिसे कुछ पाने की लालसा न हो अपितु कुछ समाज को देने की क्षमता हो। वह अपने लिए चिन्तित न हो बल्कि समाज के दायरे के ऊपर उठकर समाज का निरीक्षण कर सकने की क्षमता रखता हो, अपने को अकेला न समझे बल्कि दूसरे के भावों में प्रवेश करने की क्षमता रखता हो। अपना दर्द लिए समाज की दर्दीला न बनाये, बल्कि समाज के दर्द ये व्यथित होने वाला हो। अपनी खुशी में मस्त न हो बल्कि समाज की खुशी में हिस्सा लेने वाला हो। समाज की धारणा व्यक्ति के समान मुसीबतों में रोने वाला न हो बल्कि पथ-प्रदर्शक करने की क्षमता रखता हो।[५]

मनुष्य संसार में जो कार्य करता है। सुख पाने की लालसा से करता है। सुख की वृद्धि के लिए ही समाज भी बनाता है जब व्यक्ति अकेले सुख प्राप्त कने में असमर्थ होता है तब उसे समाज की शरण लेनी पड़ती है, समाज से उसे बल मिलता है। समाज की शक्ति उसे अधिक सुख प्राप्त कराने में सहायक होती है। मनुष्य बाल्यकाल से लेकर वृद्धावस्था तक समाज पर आश्रित रहता है वह जो कुछ सीखता है अनुभव करता है या प्राप्त करता है उसका आधार समाज ही होता है। व्यक्ति समाज का अंग है जो समाज के द्वारा पोषित होता है। व्यक्ति का जो स्वरूप बनता है, वह उसका अपना रूप नहीं है और अगर है तो बहुत थोड़ा-सा अधिकतर समाज का ही दिया हुआ रूप होता है। समाज यदि जननी है तो व्यक्ति उसका बालक, जिस प्रकार बालक माता-पिता के गुणों को संचित कर विकसित होता है उसी प्रकार व्यक्ति समाज के गुणों को संचित कर भविष्य के अनुरूप बनाता है। जब व्यक्ति समाज का ही बनाया हुआ है, समाज पर आश्रित रहता है तब यह कहा जा सकता है कि उसे अपनी सारी शक्ति समाज के हित तथा प्रगति के लिए प्रयुक्त करनी चाहिए। यही उचित है और न्याय संगत भी साहित्यकार कलाकार दार्शनिक या वैज्ञानिक ही समाज के लिए उपयोगी अंग हैं। यह तो आज कोई नहीं कह सकता कि कला दर्शन या विज्ञान के आविष्कार ने समाज को लाभ नहीं पहुँचाया, परन्तु आज भी कलाकार वैज्ञानिक तथा दार्शनिक का स्थान समाज में निराला होता। इनका जीवन प्रायः अधिक सामाजिक नहीं हो पाता, साधारण लोग इनके गुणों तथा कार्यों से अपने समय में परिचित नहीं हो पाते और यही कारण है कि इन विभूतियों का सामाजिक जीवन कष्टप्रद हो जाता है। फिर भी समाज इनको भविष्य में ऊँचा स्थान देता है और इनसे समाज का कल्याण हो जाता है।

संदर्भ सूची :

१. अखण्ड ज्योति, दिसम्बर, २०११, पृ० २७
२. प्रो० रामचन्द्र शुक्ल- आधुनिक चित्र कला, पृ० १११
३. वही, पृ० ११२
४. कला दीर्घा- अक्टूबर, २०११ अंक २३, पृ० २०
५. आनन्द कुमार स्वामी- मानव और मानवता, पृ० ३८-३९

***

ग्रामीण महिलाओं में स्वास्थ्य जागरूकता

डॉ. राजेश त्रिपाठी*

लक्ष्मी**

महिला के बिना समाज की कल्पना नहीं की जा सकती है। क्योंकि महिला की भूमिका परिवार में मुख्य होती है, जब तक महिलाओं को स्वतंत्रता नहीं दी जायेगी, तब तक महिलाएँ आगे नहीं बढ़ सकती है, उनके जीवन में बदलाव लाना आवश्यक है। महिला और पुरुष दोनों को एक-सी स्वतंत्रता व समानता मिलनी चाहिये, तभी महिलाओं को उनके स्वास्थ्य के प्रति जागरूक किया जा सकता है। आज के समय में महिलाओं का स्वास्थ्य के प्रति जागरूक होना आवश्यक है, क्योंकि आज का समय पुरुष प्रधान है, इसलिये महिलाओं के प्रति कोई ज्यादा ध्यान नहीं देता है।

महिला और पुरुष एक गाड़ी के दो पहिये के समान होते हैं, यदि इसमें एक भी बिगड़ता है तो परिवार में समस्याएँ उत्पन्न होती है। प्रकृति ने महिला व पुरुष में केवल प्रजनन अंगों (मासिक धर्म, गर्भ धारण, स्तनपान) में भेद किया है, जिसे लिंग कहते हैं, जबकि समाज द्वारा अपनी पितृसत्ता को कायम रखने के लिये अनेक अन्तर पैदा कर दिये हैं।

लिंग एवं जेण्डर में अन्तर :

लिंग	जेण्डर
जैविकीय	सांस्कृतिक रचना
प्रकृति निर्मित	समाज द्वारा निर्मित
स्थिर	परिवर्तनशील
व्यक्तिगत	चक्रिय व्यवस्था
श्रेणीक्रम	श्रेणीबद्ध

परिवार में नारी का स्थान सर्वोपरि माना गया है, लेकिन नारी को समाज में हेय-दृष्टि से देखा जाता है और उनके ऊपर घर का समस्त भार होता है। महिलाएँ खेती-बाड़ी के कार्यों में भी सहयोग करती है, लेकिन उनके कार्य को वरीयता नहीं दी जाती है। अक्सर देखा जाता है कि गाँवों में अनेक प्रकार की परम्परायें एवं रीति-रिवाज व्याप्त है, जिनको गाँव में लोग ज्यादा मानते हैं जिससे सबसे ज्यादा प्रभावित महिलाएँ ही होती है।

---

* रीडर, ग्रामीण प्रबंधन विभाग,महात्मा गाँधी चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय, चित्रकूट सतना (म०प्र०)

** शोध छात्रा, समाजशास्त्र, महात्मा गाँधी चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय, चित्रकूट सतना (म०प्र०)

अतः कहा जा सकता है कि गांव में अधिकांश महिलाएँ रोगों एवं पारिवारिक दबाव से पीड़ित रहती है, इसलिये पीड़ित महिलाओं की समस्याओं के सम्बन्ध में अध्ययन किया जाना आवश्यक है, ताकि गाँव में महिलाएँ स्वास्थ्य के प्रति जागरूक हो सकें।

अध्ययन क्षेत्र :

इस अध्ययन हेतु चित्रकूट जिले के कर्वी ब्लाक के अंतर्गत भैसौंधा गाँव को चयनित किया गया है, इस गाँव में विभिन्न धर्म, जाति एवं आर्थिक स्थिति के लोग निवास करते हैं।

अध्ययन के उद्देश्य :

१. गाँव में महिलाओं की व्यावहारिक, सामाजिक, आर्थिक परिस्थिति का अध्ययन करना।

२.महिलाओं में स्वास्थ्य के प्रति जागरूकता के स्तर को मालूम करना।

३. गर्भवती महिलाओं की स्वास्थ्य संबंधी कठिनाइयों का अध्ययन करना।

४. ग्रामीण महिलाओं के स्वास्थ्य संबंधी सुविधाओं एवं जन-सहयोग का अध्ययन करना।

५. ग्रामीण महिलाओं के स्वास्थ्य एवं जागरूकता से संबंधित सुझावों का अध्ययन करना।

शोध प्रविधि :

अध्ययन हेतु ग्राम भैसौंधा से ५० महिला उत्तरदाताओं का चयन उद्देश्यपूर्ण निदर्शन विधि द्वारा किया गया। इस विधि द्वारा विभिन्न जाति, धर्म एवं आर्थिक परिस्थितियों की महिलाओं को अध्ययन हेतु चुना गया।

सारणी क्रमांक - १

शिक्षा के आधार पर ग्रामीण महिलाओं में स्वास्थ्य जागरूकता

क्र.	विकल्प	संख्या	प्रतिशत
१.	अशिक्षित	१३	२६
२.	साक्षर	१५	३०
३.	शिक्षित	२२	४४
	योग	५०	१००

उपर्युक्त सारणी से स्पष्ट है कि ग्रामीण महिलाओं में अशिक्षित २६ प्रतिशत हैं लेकिन जैसे-जैसे शिक्षा का स्तर बढ़ रहा है, वैसे-वैसे महिलाएँ भी स्वास्थ्य के प्रति जागरूक हो रही हैं।

सारणी क्रमांक - २

व्यवसाय के आधार पर ग्रामीण महिलाओं में स्वास्थ्य जागरूकता

क्र.	विकल्प	संख्या	प्रतिशत
१.	मजदूरी	९	१८
२.	कृषि	१०	२०
३.	नौकरी	३१	६२
४.	अन्य	००	००
	योग-	५०	१००

उपर्युक्त सारणी से स्पष्ट है कि मजदूरी करने वाली ग्रामीण महिलाएँ स्वास्थ्य के प्रति कम जागरूक पाई गई हैं, इसके विपरीत ६२ प्रतिशत महिलाओं ने यह स्वीकार किया कि नौकरी करने वाली महिलाओं को स्वास्थ्य के प्रति अधिक जानकारी एवं जागरूकता रहती है।

सारणी क्रमांक - ३

गर्भवती महिलाओं का पौष्टिक आहार के आधार पर ग्रामीण महिलाओं में स्वास्थ्य जागरूकता

क्र.	विकल्प	संख्या	प्रतिशत
१.	हाँ	१८	३६
२.	नहीं	३२	६४
	योग	५०	१००

उपर्युक्त सारणी से स्पष्ट है कि गर्भवती महिलाओं में पौष्टिक आहार के प्रति जागरूकता में कमी एवं सही समय पर उसका न मिल पाना पाया गया।

सारणी क्रमांक - ४

महिलाओं के स्वास्थ्य चिकित्सा संबंधी आवश्यकताओं के आधार पर ग्रामीण महिलाओं में स्वास्थ्य जागरूकता

क्र.	विकल्प	संख्या	प्रतिशत
१.	प्रसव केन्द्र/उपस्वास्थ्य केन्द्र	२१	४२
२.	सामुदायिक स्वास्थ्य केन्द्र	११	२२
३.	महिला डॉक्टर	१८	३६
४.	अन्य	००	००
	योग	५०	१००

उपर्युक्त सारणी से स्पष्ट है कि ग्रामीण महिलाएँ गाँव स्तर पर प्रसव केन्द्र/ उपस्वास्थ्य केन्द्र एवं महिला डाक्टर की जरूरत महसूस करती हैं।

सारणी क्रमांक - ५

प्रसव की सुविधा के आधार पर ग्रामीण महिलाओं में स्वास्थ्य जागरूकता

क्र.	विकल्प	संख्या	प्रतिशत
१.	प्रसव केन्द्र	१२	२४
२.	आशा-बहू	३१	६२
३.	महिला डॉक्टर	०७	१४
	योग	५०	१००

उपर्युक्त सारणी से स्पष्ट है कि ग्रामीण महिलाएँ गाँव में प्रसव के लिये आशा बहू को ज्यादा उपयुक्त मानती हैं, साथ ही महिला डॉक्टर को भी प्राथमिकता देती है।

निष्कर्ष एवं सुझाव :

* २८ से ३० वर्ष की महिलाएँ स्वास्थ्य संबंधी समस्याओं से अधिक प्रभावित एवं उनमें जागरूकता में कमी पाई गई।
* २६ प्रतिशत अशिक्षित महिलाओं की स्वास्थ्य संबंधी जागरूकता में सर्वाधिक कमी पाई गई।
* ६४ प्रतिशत गर्भवती महिलाओं का मानना है कि उन्हें पौष्टिक आहार प्राप्त नहीं हो रहा है।
* ६२ प्रतिशत महिलाओं ने यह स्वीकार किया कि नौकरी करने वाली महिलाएँ स्वास्थ्य के प्रति अधिक जागरूक हैं।
* गाँव की ४२ प्रतिशत महिलाएँ प्रसव के लिये सरकारी स्वास्थ्य केन्द्र जाती हैं।
* ६२ प्रतिशत ग्रामीण महिलाओं ने यह माना कि प्रसव के समय सर्वाधिक सहयोग उन्हें आशा बहू से प्राप्त होता है।

उपर्युक्त निष्कर्षों के आधार निम्न सुझाव समीचीन हैं :-

* गाँव में पिछड़ी एवं अनुसूचित जाति की महिलाओं को स्वास्थ्य के प्रति अधिक जागरूक करने की आवश्यकता है।
* गाँव में निरक्षर एवं अशिक्षित महिलाओं को स्वास्थ्य संबंधी जानकारी एवं सुविधाओं हेतु जागरूक करने के लिये विशेष प्रयास करने की आवश्यकता है।
* गाँव में महिला स्वास्थ्य हेतु विशेष योजनाएँ चलाने की आवश्यकता है।
* ग्रामीण महिलाओं को स्वास्थ्य संबंधी मिलने वाली आर्थिक सहायता का लाभ व्यावहारिक रूप से उन्हें प्रदान करवाने की आवश्यकता है।
* ग्रामीण महिलाओं की माँग एवं आवश्यकतानुसार प्रत्येक गाँव में एक प्रसव केन्द्र की सुविधा उपलब्ध कराना आवश्यक है।

सन्दर्भ सूची :

१. डॉ. आशा रानी- महिला विकास कार्यक्रम।

२. डॉ. मनीषा तैलंग- जन स्वास्थ्य एवं प्रजनन स्वास्थ्य कार्यक्रम।

३. गुप्ता। एम.एल., शर्मा डी.डी.- भारतीय ग्रामीण समाजशास्त्र।

४. अग्रवाल, गोपालकृष्ण- सामाजिक समस्याएँ।

५. डॉ. जी.के. अग्रवाल- ग्रामीण समाज शास्त्र।

६. पत्रिका : योजना (मार्च २००८)।

***

भारत की जनगणना-२०११ : एक विश्लेषण

डॉ० राकेश कुमार तिवारी*

भारतीय अर्थव्यवस्था के स्वरूप, उसकी अवस्था और क्षमता की समुचित जानकारी के लिए देश की जनसंख्या के विविध पहलुओं का विवेचन आवश्यक है। वास्तव में जनसंख्या ही किसी देश की सच्ची परिसम्पत्ति होती है। वहाँ का आर्थिक जीवन, विकास तथा कल्याण बहुत बड़ी सीमा तक जनसंख्या के आकार एवं गुण-कोटि पर निर्भर करता है।

भारत की जनसंख्या बहुत बड़ी है और वर्तमान समय में तेजी से बढ़ रही है। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में भारत की जनसंख्या २३.६ करोड़ अनुमानित की गई। १९८१ ई० की जनगणना के अनुसार यह ६८.३ करोड़ आँकी गई।[१] १९९१ ई० तक भारत की जनसंख्या ८४.४ करोड़[२] और २००१ में १०२.८७ करोड़ हो गयी।[३] लेकिन जनगणना २०११ ई० पूरी होने के चार सप्ताह के भीतर जारी जनसंख्या के अस्थायी आंकड़ों के अनुसार भारत की कुल आबादी १ अरब २१ करोड़ है।[४] इस प्रकार पिछले एक दशक में १८ करोड़, १० लाख लोग और जुड़े हैं। परन्तु २००१-२०११ के दशक में जनसंख्या की वृद्धि दर कुल १७.६ प्रतिशत रही जबकि १९९१-२००१ के दशक में २१.५ प्रतिशत की दर से वृद्धि हुई थी। इससे स्पष्ट होता है कि जनसंख्या वृद्धि दर में गिरावट आई है। आशा है कि अनुमानित समय से पूर्व ही भारत चीन को पीछे छोड़ते हुए २०३० ई० तक, विश्व की सबसे बड़ी जनसंख्या वाला देश बन जाएगा। आशा है २०४१ ई० तक भारत की जनसंख्या १ अरब, ४१ करोड़ पर जाकर स्थिर हो जाएगी।

उपरोक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि भारत, जनसंख्या विस्फोट की ओर अग्रसर है। नव-माल्थसवादी अर्थशास्त्रियों के अनुसार अल्पविकसित देशों में जनसंख्या की समस्या मनुष्य के पुनरोत्पादक आचरण से जुड़ी हुई है। लेकिन जनांकिकी परिवर्तन सिद्धान्त के अनुसार-प्रत्येक देश की जनसंख्या को तीन अवस्थाओं से गुजरना होता है और केवल दूसरी अवस्था में जनसंख्या तेजी के साथ बढ़ती है।[५]

पहली अवस्था में जन्म और मृत्यु दोनों ही दरे ऊँची होती हैं, इसलिए जनसंख्या स्थिर रहती है। दूसरी अवस्था में मृत्युदर नीचे आने लगती है लेकिन जन्मदर ऊँची बनी रहती है। भारत में इस समय यही अवस्था है। तीसरी अवस्था में जन्म और मृत्यु दरें नीची हो जाती है और जनसंख्या वृद्धि की दर भी नीची रहती है। भारत की जनसंख्या इस समय इंडोनेशिया, ब्राजील, जापान, बांग्लादेश और पाकिस्तान की संयुक्त जनसंख्या के लगभग बराबर हो चुकी है।

प्रमुख राज्यों में २००१-२०११ ई० की अवधि में २५.१ प्रतिशत की वृद्धिदर के साथ बिहार सबसे तेजी से बढ़ने वाला राज्य है। इसकी वृद्धिदर सभी प्रमुख उत्तरी राज्यों-बिहार, उत्तरप्रदेश,

* असिस्टेण्ट प्रोफेसर, अर्थशास्त्र विभाग, ज०रा०वि०वि०, चित्रकूट

राजस्थान, मध्यप्रदेश, झारखंड एवं छत्तीसगढ़ में २० प्रतिशत की दर से आगे निकल गई हैं। लेकिन केरल में २००१–२०११ ई० के दौरान ४–९ प्रतिशत की वृद्धिदर इस बात की ओर संकेत करती है कि अगले १०–२० वर्षों में राज्य की जनसंख्या दर में स्थायित्व आ जाएगा। पंजाब, आंध्रप्रदेश और पश्चिम बंगाल की वृद्धिदर ११–१३ प्रतिशत के आस–पास रही है, जबकि कर्नाटक, महाराष्ट्र और तमिलनाडु में वृद्धिदर पर १५–१६ प्रतिशत के लगभग रही है। दक्षिणी राज्य जनसंख्या में स्थिरता के अग्रदूत बनकर उभरे हैं।

उत्तर भारत के राज्यों में दशकीय जनसंख्या की वृद्धि दर अधिक होने का मुख्य कारण गरीबी, साक्षरता दर में गिरावट क्षेत्रीय एवं राष्ट्रीय दलों का जातीय एवं धर्म (मुस्लिम तुष्टीकरण) के आधार पर राजनीति करना भी है।

भारत ने साक्षरता के विस्तार के क्षेत्र में उल्लेखनीय प्रगति की है। स्वतंत्रता के बाद हुई पहली जनगणना में कुल १८ प्रतिशत की साक्षरता की तुलना में २०११ ई० में भारत की साक्षरता का प्रतिशत ७४ तक जा पहुँचा है। पुरुषों की उपलब्धि २७ से ८२ प्रतिशत तक रही है जबकि महिलाओं की साक्षरता के मामले में उन्हीं ६० वर्षों में साक्षरता का प्रतिशत ६५.५ प्रतिशत पहुँच गया है। जनगणना १९५१ के अनुसार तक केवल १० प्रतिशत महिलाएँ ही साक्षर थीं।

२००१ ई० की तुलना में २०११ ई० में पुरुष साक्षरता दर में ६ प्रतिशत की वृद्धि दर्ज की गई, जबकि महिला साक्षरता दर में १२ प्रतिशत की बढ़ोत्तरी हुई। पुरुष साक्षरता का प्रतिशत पूरे देश में ७५ प्रतिशत से भी अधिक है, जबकि केरल और कुछ अन्य छोटे राज्यों में यह ९० प्रतिशत से भी अधिक है। बिहार में महिला साक्षरता के क्षेत्र में उपलब्धि उल्लेखनीय है, यह २००१ के ३३ प्रतिशत से बढ़कर २०११ में ५३ प्रतिशत हो गई है।

प्रसन्नता का विषय यह है कि पुरुषों की तुलना में महिलाओं की जनसंख्या में वृद्धि हो रही है। १९९१ ई० में १००० पुरुषों के मुकाबले कुल ९२७ महिलाएँ थीं और २००१ ई० में ९३३, जबकि २०११ ई० में, प्रति १००० पुरुषों के तुलना में महिलाओं की संख्या ९४० तक पहुँच गई है। फिर भी विश्व के अधिकतर देशों की तुलना में भारत में लिंगानुपात असामान्य है।

बाल लिंगानुपात में १९६१ ई० से ही क्रमिक रूप से गिरावट दर्ज की जा रही है। १९६१ ई० में जहाँ १००० बालकों के पीछे ९७६ बालिकाएँ थीं, वहीं उनके अनुपात में और कमी आते हुए २००१ तक ९२७ तथा २०११ में तो ९१४ लड़कियाँ ही प्रति १००० बालकों के पीछे रह गईं। इस स्थिति ने पूरे विश्व का ध्यान आकर्षित किया है और इसके पीछे जो कारण मुख्य रूप से बताया जा रहा है, वह है– भ्रूण लिंग परीक्षण की बढ़ती प्रवृत्ति और बालिका भ्रूणों का चुनिंदा तौर पर गर्भपात। पुरुष प्रधान भारतीय समाज में सदियों से बेटे को वरीयता दी जाती रही है और यह प्रवृत्ति अभी भी बनी हुई है।

२०११ ई० की यह जनगणना देश की १५वीं और आजादी मिलने के बाद ७वीं राष्ट्रीय जनगणना है। जनगणना के अस्थायी आँकड़े ३१ मार्च को केंद्रीय गृह सचिव जी०के० पिल्लै और महापंजीयक सी० चंद्रमौलि ने जारी किए। इनके अनुसार दुनिया के प्रत्येक छः व्यक्तियों में एक भारतीय है। वर्ष २०११ ई० की जनसंख्या की रिपोर्ट के अनुसार २००१ ई० से लेकर २०११–१२ ई० के दस वर्षों में प्रति वर्ग कि०मी० पर ३२५ की आबादी १७.५ प्रतिशत बढ़कर अब ३८२ हो गई है।

हमारे देश का मैदानी क्षेत्र विश्व के कुल १३ करोड़ ५० लाख वर्ग किमी० का मात्र २.४ प्रतिशत है और यह विश्व की १७.५ प्रतिशत आबादी का घर है। उधर अमरीका का क्षेत्र कुल भूमि का ७.२ प्रतिशत है जबकि वहाँ विश्व के सिर्फ ४.५ प्रतिशत लोग ही रहते हैं।

भारत की बढ़ती जनसंख्या न केवल भारत के लिए वरन सम्पूर्ण विश्व के लिए चिंता का विषय है। बढ़ती जनसंख्या ने भारत की जनता के लिए संसाधनों की पूर्ति व प्रबंध की बहुत बड़ी चुनौती पैदा की है। देश से गरीबी हटाने की तमाम योजनाएँ जनसंख्या विस्फोट की चुनौती के सामने असफल साबित हुई है। विश्व बैंक की एक रिपोर्ट में बताया गया है कि भारत में ४२ प्रतिशत 'जनसंख्या गरीबी रेखा से नीचे जीवन यापन करती है। बढ़ती जनसंख्या ने बेरोजगारी जैसी गंभीर समस्या को उत्पन्न किया है जिसका परिणाम ७.८ प्रतिशत बेरोजगारी दर के रूप में हमारे सामने है।

जब एडम स्मिथ ने अपनी 'वेल्थ आफ नेशन' नामक पुस्तक लिखी, तब से आर्थिक वृद्धि पर जनसंख्या के परिणाम अर्थशास्त्रियों का ध्यान आकर्षित करते रहे हैं। एडम स्मिथ के अनुसार– '' प्रत्येक राष्ट्र का वार्षिक श्रम ऐसी निधि है, जो मूल रूप से उसके लिए जीवन की सब आवश्यकताओं और सुविधाओं की पूर्ति करता है।''[७] किसी भी देश के आर्थिक विकास में मानव संसाधनों का अपना एक विशेष महत्व है, फिर भी विभिन्न युगों में उभरने वाली विश्व की सभ्यताओं के निर्माण और पतन का श्रेय मानव को ही रहा है।

धर्म ग्रन्थों के अनुसार यदि यह सच है कि इस सृष्टि का सृजन स्वर्ग के भगवान द्वारा किया गया है, तो फिर यह भी सत्य है कि इस सृष्टि का अस्तित्व और उसका परिवर्तित स्वरूप इस पृथ्वी के भगवान अर्थात् मानव के ऊपर निर्भर रहा है।

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि यदि जनसंख्या आर्थिक विकास का एक प्रभावी स्रोत है तो कुछ दशाओं में वह आर्थिक विकास की प्रमुख बाधा भी है। रिचर्ड गिल के अनुसार– ''जनसंख्या–वृद्धि का राष्ट्रीय उत्पादन तथा प्रतिव्यक्ति आय पर अन्तिम प्रभाव घनात्मक, ऋणात्मक या तटस्थ होगा, यह इस बात पर निर्भर करेगा कि जनसंख्या वृद्धि का स्वरूप क्या है और वह किन दशाओं में हो रही है।''[८] यदि जनसंख्या–वृद्धि उच्च जनन–क्षमता लिए है और उसका प्रभाव उत्पादक आयु–वर्ग के लोगों की बजाय, आश्रितों की संख्या को बढ़ाने वाला है तो इससे उत्पादकों के स्थान पर उपभोक्ताओं की संख्या अधिक होगी और कुल मिलाकर जनसंख्या–वृद्धि का प्रति व्यक्ति उत्पादन पर प्रभाव ऋणात्मक होगा।

सन्दर्भ सूची :

१. ए०एन० अग्रवाल– भारतीय अर्थ व्यवस्था– पृ० ८२
२. दत्त एवं सुन्दरम्– भारतीय अर्थव्यवस्था– पृ० २३
३. भारतीय अर्थव्यवस्था– प्रतियोगिता दर्पण, (२०१०–११), पृ० २२
४. योजना, जुलाई २०११, पृ० ६
५. मिश्र एवं पुरी– भारतीय अर्थव्यवस्था, पृ० ९२
६. विश्व बैंक रिपोर्ट– २०११
७. एम.एल०झिंगन– विकास का अर्थशास्त्र एवं आयोजन, पृ० ३३८
८. एस०पी० सिंह– आर्थिक विकास एवं नियोजन– पृ० २८०

***

बुद्ध के जीवन चरित का साहित्य एवं कला में समन्वय

डा० मनीषा सिन्हा*
सुश्री रूपम सिन्हा**

जातक में शाक्य मुनि के माता की कुक्षि में आने का उल्लेख है।[१] भरहुत फलक पर माया देवी के स्वप्न शीर्षक में इसका अंकन हैं। माया देवी पर्यंक पर शान्त मुद्रा में सोयी हैं। उनका दाँया हाथ उनके सिर के नीचे है और बायाँ हाथ पार्श्व में है। पलंग के समीप तीन सेविकाओं की आकृति है। एक सेविका पतंगा हटाने के लिए चामर डुला रही है। दूसरी सेविका की मुद्रा स्पष्ट नहीं है। तीसरी सेविका अँजलि बाँधे भक्ति की मुद्रा में बैठी है। माया देवी वस्त्र- विन्यास के साथ कुण्डल, हार, बाजूबन्द, पायल, तगड़िया आदि आभूषण से अलंकृत हैं इनके पार्श्व में हाथी बना है। जिनके दो दाँत दिख रहे हैं हाथी के सिर को ढकने वाला वस्त्र सजावटी है।[२]

मज्झिम निकाय में वर्णित है कि अब बोधिसत्व माता की कुक्षि से निकलते हैं तो आकाश से एक शीतल, एक गर्म जलधारा प्रकट होती है जिससे उनका स्नान होता है।[३] **ललितविस्तर** में भी उल्लेख है कि नागराज नन्द तथा उपनन्द ने गगनतल पर अर्द्धमानव शरीर में उपस्थित होकर शीतल तथा उष्ण जलधारा से बालक बुद्ध को स्नान करवाया।[४] मथुरा से प्राप्त एक फलक अंकन में बालक बुद्ध बने हैं। इनके दोनों तरफ नीचे से सर्पाकृति, कमर से ऊपर मानवाकृति और नागफण से सुशोभित अँजलिबद्ध आकृतियाँ हैं। फलक पर ऊपर की तरफ पाँच शुत्र वाद्ययन्त्र बने हैं। इसे बुद्ध का प्रथम स्नान दृश्य माना जाता है।[५]

विनयपिटक में उल्लेख है कि उरूवेला में जटिल काश्यप की कुटिया थी जिसमें भयानक नागराज रहता था लेकिन बुद्ध उससे भयभीत नहीं हुए और रात्रि विश्राम के लिए आश्रम में प्रवेश किया। सम्पूर्ण रात्रि बुद्ध और नागराज में संघर्ष हुआ।[६] अन्ततः बुद्ध ने नागराज को विनीत पर विजय प्राप्त किया। इस संघर्ष का साँची स्तूप पर उत्कृष्ट अंकन है। आश्रम के सामने अग्नि जल रही है अन्दर की तरफ पाँच फणधारी नाग है। आश्रम के बाहर तपस्वीगण एवं भक्तगण चिन्तन मुद्रा में हैं।[७]

ललितविस्तर में उल्लिखित है कि पापियान ने तपस्वी की तपस्या भंग करने अप्सराओं को भेजा।[८] तपस्यारत बुद्ध की तपस्या भंग करने में प्रयासरत अप्सराओं के अद्वितीय दृश्य का अंकन भरहुत कला में भी दिखाई देता है। फलक के दायीं ओर चार स्त्रियों की आकृति है और एक बालक नृत्य कर रहा है। मध्य में बायीं ओर बैठी आठ स्त्रियों की आकृति है। इनमें एक के हाथ में मंजीरा, चार स्त्रियों के हाथ में तारों

* प्रवक्ता, प्राचीन इतिहास विभाग, श्रीअग्रसेन कन्या पी०जी० कालेज, परमानन्दपुर, वाराणसी
** शोध छात्रा-ललित कला विभाग, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी

वाली वीणा है। तीन स्त्रियाँ बिना वाद्ययन्त्र के गायन कर रही हैं। लेख में चारों का नाम–सुभद्रा, सुदर्शना, मिश्रकेशी, अलम्बुसा है जो सभी अप्सरायें हैं। फलक के कोने में बुद्ध के प्रतीक के रूप में बोधिवृक्ष है।[९]

विनयपिटक[१०] तथा उदान[११] में गौतम बुद्ध के समाधिस्थ भाव का उल्लेख है। जब आकाश में काले–काले मेघ उमड़ने लगे तब नागराज मुचलिन्द ने सर्दी, धूप एवं खराब मौसम से बुद्ध की रक्षा की। साँची स्तूप के पश्चिमी द्वार पर बुद्ध के प्रतीक स्वरूप बोधिवृक्ष बना है, उसकी रक्षा करते हुए नीचे मुचलिन्द नाग अंकित है। मुचलिन्द के चतुर्दिक उपासिकाएँ और नाग कन्याएँ हैं। नाग आकृतियाँ कमर के ऊपर मानवाकृति में पाँच सर्पगण से सुशोभित हैं।[१२]

संयुक्त निकाय में शक्र द्वारा बुद्ध के अभिवादन की बात कही गई है।[१३] **ललितविस्तर** में भी इन्द्र का बुद्ध के दर्शनार्थ आने का उल्लेख है।[१४] साँची के उत्तरी तोरण द्वार पर ऊपर की तरफ इन्द्रशाल गुहा का चित्रण है। नीचे की तरफ अनुचर बने हैं। इनमें एक बकरामुखी आकृति भी है जिसे बौद्ध साहित्य में इन्द्र का सेनापति हरिणगमेषी कहा गया है गुहा को इन्द्र का प्रतीक माना जाता है।[१५]

विनयपिटक में शक्र का तरुण माणवक अर्थात युवा ब्राह्मण बनकर भिक्षु संघ के आगे प्रशंसा गीत गाने का उल्लेख है।[१६] बोधगया में स्तम्भों के मध्य उत्कीर्ण इन्द्र को ब्राह्मण वेश में अंकित किया गया है।[१७]

केवट सुत्त[१८], **बह्मनिमन्तिकसुत्त**[१९], **बकब्रह्मसुत्त**[२०] में उल्लेखित है कि ब्रह्मा के चित्त का निवारण करने हेतु बुद्ध ब्रह्मलोक गये तथा ब्रह्मा के प्रश्नों का समाधान किया। भरहुत और मथुरा कला में बुद्ध का त्रयस्त्रिंश अर्थात देवलोक से आने का दृश्य सीढ़ी द्वारा दिखाया गया है। जिसमें एक पद सबसे ऊपरी सोपान पर दूसरा पद सबसे नीचे सोपान पर अंकित है।[२१]

आलवकसुत्त[२२] में वर्णित है कि आलवक यक्ष बुद्ध से अपने विभिन्न प्रश्न का उत्तर जान संतुष्ट होता है। गया का सूचिलोम यक्ष भी वास्तविकता जानने के लिए बुद्ध से शरीर टकराना चाहता है[२३] लेकिन बुद्ध के शान्तभाव के कारण हटकर विनीत हो जाता है। भरहुत स्तूप पर सूचिलोम तथा आलवक यक्ष का अंकन है।[२४] सूचिलोम यक्ष विनीत भाव में दिखाई दे रहा है। जबकि आलवक यक्ष की हस्तमुद्रा प्रश्न करने या वार्तालाप की मुद्रा में है जैसे वह कुछ समझना चाहता है।

कलिंगबोधि जातक में बुद्ध अपने अनुयायियों को बताते हैं कि उनकी अनुपस्थिति में उनका सर्वोचित प्रतिरूप बोधिवृक्ष है।[२५] बोधिवृक्ष पूजा का स्पष्ट अंकन भरहुत स्तूप पर है। इसमें बुद्ध के प्रतीक रूप में उपासकगण द्वारा उसकी पूजा हो रही है।[२६] इसी भावना के अन्तर्गत साँची और भरहुत में सात मानुषी बुद्ध का अंकन हुआ है।

महात्मा बुद्ध के जन्म को लेकर परिनिर्वाण की घटनाएँ जो बौद्ध साहित्य में उल्लिखित है इसकी प्रामाणिकता तत्कालीन कलात्मक अंकन स्वत: ही प्रस्तुत करते हैं। कला और साहित्य के समन्वय से अनूठे चरित को भावपूर्ण ढंग से समझा जा सकता है।

सन्दर्भ सूची :

१. जातक १, पृ० ६४

२. तुलसीराम शर्मा, हिन्दी अनु०, भरहुत स्तूप, पृ० ७७

३. राहुल सांकृत्यायन- हिन्दी अनु०, मज्झिम निकाय, पृ० ५१३

४. शान्ति भिक्षु शास्त्री- मूल-अनु०, ललित विस्तर, पृ० १८१
५. शर्मा, आर०सी०- बुद्धिस्ट आर्ट ऑफ मथुरा, पृ० २४०
६. राहुल सांकृत्यायन- हिन्दी अनु०, विनयपिटक, पृ० १७९
७. सिन्हा, बी०सी०- ट्री वर्शिप इन एंशियन्ट इंडिया, पृ० ३१
८. तिब्बती फोक्रा अनुदित, ललितविस्तर, पृ० ३०६
९. तुलसीराम शर्मा- हिन्दी अनु०, भरहुत स्तूप, पृ० २७
१०. राहुल सांकृत्यायन- हिन्दी अनु०, विनयपिटक, पृ० २७७
११. भिक्षु जगदीश कश्यप- हिन्दी अनु०, उदान, पृ० १५
१२. चन्द्र, जगदीश- साँची स्तूप, पृ० १५
१३. भिक्षु जगदीश कश्यप- हिन्दी अनु०, धर्म रक्षित, संयुक्त निकाय, भाग १, पृ० १८३-८४
१४. शान्ति भिक्षु शास्त्री- मूल अनु०, ललितविस्तर, पृ० १८१
१५. चन्द्र, जगदीश- साँची स्तूप, पृ० ३९
१६. राहुल सांकृत्यायन- हिन्दी अनु०, विनयपिटक, पृ० ९७
१७. कुमारस्वामी, आनन्द- हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एण्ड इण्डोनेशियन आर्ट, पृ० ३२
१८. राहुल सांकृत्यायन- हिन्दी अनु०, दीघ्घ निकाय, पृ० ७८-७९
१९. राहुल सांकृत्यायन- हिन्दी अनु०, मज्झिम निकाय, पृ० १९६
२०. जगदीश कश्यप- धर्म रक्षित, हिन्दी अनु०, संयुक्त निकाय, खण्ड १, पृ० १०३
२१. तुलसीराम शर्मा- हिन्दी अनु०, भरहुत स्तूप, पृ० १०३
२२. जगदीश काश्यप- धर्म रक्षित, हिन्दी अनु०, सुत्तनिपात, खण्ड १, पृ० ४३-४७
२३. जगदीश काश्यप धर्म रक्षित- हिन्दी अनु०, संयुक्त निकाय, खण्ड १, पृ० १६४
२४. बरुआ, बी०एम०- भरहुत, भाग २, पृ० ५८
२५. कलिंग बोधि जातक-४, पृ० ७९
२६. तुलसीराम शर्मा- हिन्दी अनु०, भरहुत स्तूप- पृ० ४४

***

सामयिक परिप्रेक्ष्य में पातञ्जलयोग का अवदान

डॉ० गिरीश कुमार सिंह*

प्राचीन शिक्षण पद्धतियों में पतञ्जलि की योग शिक्षण पद्धति का अपना विशिष्ट स्थान है। शरीर, मन व आत्मा को स्वस्थ व निरोगी रखने में योग के माहात्म्य को हमारे प्राचीन ग्रन्थों वेद, पुराण, उपनिषद् सभी ने स्वीकार्य किया है।

आज विदेशों में साधन तो है, लेकिन मन की शान्ति और निरोगी काया नहीं है। जैसे-जैसे हम विकास की सीढ़ियों पर कदम रख रहे हैं वैसे-वैसे नयी-नयी बीमारियाँ भी जन्म ले रही हैं। यदि इससे मुक्ति पाना है, तो हमें योग को जीवन में अपरिहार्यरूप से अपनाना होगा। योग से तमाम बीमारियों का निदान होता है, व्यक्ति दीर्घायु होता है। विश्व रोगमुक्त व दवामुक्त हो सकता है। योग में समग्रता व पूर्णता है। अब एक सहज स्वाभाविक जिज्ञासा जन्म लेती है कि वस्तुतः यह योग है क्या? और योग के अन्तर्गत किन-किन क्रियाओं को सम्मिलित किया जाता है। योग का विषय आध्यात्मिक उन्नति में आगे बढ़ने के लिए ज्ञान प्राप्त करना, मार्ग पाना और उस मार्ग पर चलकर सुख व शान्ति प्राप्त करना है।

योगशास्त्र की रचना महर्षि पतञ्जलि महाराज ने की है। 'योगश्चित्त वृत्ति निरोधः'[१] अर्थात् वित्त की वृत्तियों का शमन ही योग है। योग के प्रमुख ८ अंग हैं– यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान व समाधि।[२] वस्तुतः चित्त वृत्तियों का शमन ही योग का प्रमुख तत्व है, और जब चित्त की चंचलता पर अधिकार होगा, तभी 'यम' के अन्तर्गत आने वाले ५ तत्वों अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का पालन हो पाएगा।

नियम पाँच हैं– शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान। यम दूसरों के साथ व्यवहार से सम्बन्धित हैं, जबकि नियम स्वयं के पालन के लिए है। शरीर एवं मन की पवित्रता शौच है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि को त्यागने से मन शुद्ध होता है तथा दया, क्षमा, नम्रता, स्नेह, मधुर-भाषण एवं त्याग से आन्तरिक पवित्रता आती है। कुवृत्तियों को सदा निवारण करते रहना, विषयों में लिप्त इन्द्रियों एवं मन का दमन करते रहना, आसक्तियों से स्वयं को हटाए रखना 'तप' है। अन्य प्रमुख नियम है– ईश्वर प्रणिधान अर्थात् बुद्धि, नम्रता, भक्ति एवं पूर्ण तन्मयता के साथ प्रत्येक कर्म को फल सहित परमात्मा को समर्पित करना।

आसन एक वैज्ञानिक पद्धति है। यह हमारे शरीर को स्वच्छ शुद्ध व सक्रिय रखकर शारीरिक व मानसिक रूप से सदा हमें स्वस्थ रख सकती है। केवल आसन ही एक ऐसा व्यायाम है जो हमारे शरीर

* प्राचार्य, भागवन्ती ऐजूकेशन सेन्टर डिग्री कालेज, कानपुर (उ०प्र०)

के आन्तरिक अवयवों को भी स्वस्थ रखने में समर्थ है। अन्दर के अंग हैं– हृदय, फेफड़े, पाचन संस्थान, अन्त:श्रावी ग्रन्थियों, मानसिक तथा नाड़ी संस्थान आदि।

महर्षि पतञ्जलि ने कहा है कि "श्वासाप्रश्वासयो गतिविच्छेद: प्राणायाम:"[3] अर्थात् प्राण की स्वाभाविक गति श्वास-प्रश्वास को रोकना 'प्राणायाम' है। योगी प्राणायाम के द्वारा आत्मा के प्रकाश में बाधक अविद्या को हटाता है। इसके निरन्तर अभ्यास से अन्तर्चेतना जागृत होती है। स्नायुमण्डल की शुद्धि होती है। यह स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर की ओर अग्रसर होने का प्रवेशद्वार है। प्राणायाम में मुख्य रूप से तीन ही क्रियाएँ होती हैं। (१) श्वास लेना, (२) श्वास छोड़ना (३) उसे कुछ क्षण अन्दर व बाहर रोकना।

हमारे शरीर में ७२००० नस नाड़ियाँ हैं, जिनमें १० विशेष हैं और उनमें भी ३ विशेषतम् हैं ये तीन हैं।

१. चन्द्र नाड़ी– यह शरीर के बाएँ भाग का नियन्त्रण करती है। यह ठंडी है तथा मानव के विचारों को नियन्त्रित करती है।

२. सूर्य नाड़ी– यह शरीर के दाएँ भाग का नियन्त्रण करती है। यह गर्म है तथा मानव में प्राणशक्ति का नियन्त्रण करती है।

३. सुषुम्ना नाड़ी– यह मध्य नाड़ी है। न अधिक ठंडी और न अधिक गर्म। परन्तु दोनों के सन्तुलन में सहायक है। यह प्रकाश तथा ज्ञान देती है।

शारीरिक दृष्टि से इन तीनों नाड़ियों में ठीक-ठीक सन्तुलन आरोग्य, बल, शक्ति तथा लम्बी आयु प्रदान करती है।

बाहरी स्थूल इन्द्रियों को निज विषयों से विमुख करके स्थिर करना 'प्रत्याहार' है। अर्थात् अपने-अपने विषयों के साथ सम्पर्क न करके इन्द्रियों का बुद्धि के स्वरूप का अनुसरण करना प्रत्याहार कहलाता है।

स्वयं को स्वयं में स्थिर करने की साधना को 'धारणा' कहते हैं। स्थूल तथा सूक्ष्म किसी भी विषय में अर्थात् हृदय, भृकुटि, नासिका, 'ॐ' शब्द आदि आध्यात्मिक प्रदेश या देवता की मूर्ति में चित्त को लगाना धारणा कहलाता है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम आदि के उचित अभ्यास से यह सरल हो जाता है।

'ध्यान' हमें अपने-आप से मिलाता है, हमें अन्तर्मुखी करता है, हमें स्वयं में स्थित करता है। ध्यान हमें ऐसी समझ देता है। जिससे हम उचित निर्णय लेकर अपने जीवन को सुचारु रूप से चला सकें। 'ध्यान योग' मानसिक शान्ति व स्वनिरीक्षण के लिए किया जाता है।

'समाधि' उस अवस्था को कहते हैं, जिसमें व्यक्ति का काम सेवा, अर्चना, पूजा भक्ति सब कुछ परमात्मा के लिए होता है। गीता में ऐसे व्यक्ति को 'स्थितप्रज्ञ' की संज्ञा दी गई है। ध्यान में जब चित्त 'ध्यानाकार' को छोड़कर केवल ध्येय वस्तु के आकार को ग्रहण करता है तब उसे समाधि कहा जाता है। 'समाधि' ध्यान की चरम अवस्था है।

इस प्रकार महर्षि पतञ्जलि की योग शिक्षा पद्धति में इन ८ अंगों का समावेश करके व इनका नियमित अभ्यास करने से व्यक्ति का शारीरिक, मानसिक व भावनात्मक विकास किया जा सकता है। अब प्रश्न यह उठता है कि योग से शरीर का स्वास्थ्य तथा मन को शान्ति कैसे प्राप्त होती है। इसका सीधा सरल उत्तर है कि मन-मस्तिष्क को स्वस्थ रखे बिना हम शरीर को स्वस्थ नहीं रख सकते हैं तथा नाड़ी संस्थान तथा मस्तिष्क को स्वस्थ व शान्त रखने के लिए योग से बेहतर कोई विकल्प नहीं है।

योग व प्राणायाम का अभ्यास करने से फेफड़े मजबूत होते हैं। अधिक से अधिक आक्सीजन शरीर को मिलती है। तथा उसका उपयोग शरीर के विकार को बाहर निकालने में होता है। प्राणायाम से मस्तिष्क के अन्दर के स्नायुमण्डलों पर भी प्रभाव पड़ता है। मस्तिष्क के विकार दूर होते हैं। द्वन्द्वों को सहन करने की शक्ति बढ़ती है। आत्मविश्वास पैदा होता है। स्मरणशक्ति प्रबल होती है तथा मस्तिष्क की कार्यक्षमता बढ़ती है। कठिनाई तथा अत्यन्त विपरीत अवस्था में भी मनुष्य धैर्यपूर्वक सही निर्णय ले सकने में समर्थ होता है। सकारात्मक सोच विकसित होती है, क्रोध व काम पर विजय प्राप्त होती है। सद्विचारों एवं मानव मूल्यों में रुचि उत्पन्न होती है तथा व्यावहारिक जीवन में सद्चरित्रता, सद्भावना, परस्पर मैत्री व विश्व बन्धुत्व की भावना विकसित होती है।

प्रतिदिन नियमित रूप से योग करने से हम अपने शरीर को शुद्ध व तनावमुक्त रखते हैं। शरीर के विकास मुक्ति के चारों द्वार नासिका, त्वचा, गुर्दे तथा गुदा सक्रिय रहते हैं, इससे शरीर में विकार रुकता नहीं है। शरीर हल्का व मन शान्त रहता है।

योगासन करने से हम अपने वाचन संस्थान को स्वस्थ रखते हैं, पावक रस पूरी तरह निकलते हैं। फलतः भूख लगती है। लिवर तथा क्लोम ग्रन्थि सक्रिय होती हैं। ग्रहण किया हुआ भोजन पूरी तरह पचता है, जिससे शरीर को आवश्यक शक्ति मिलती है।

इस प्रकार निष्कर्ष, स्वरूप कहा जा सकता है कि प्राचीन योगऋषि पतञ्जलि द्वारा निर्देशित योग शिक्षा पद्धति वर्तमान परिप्रेक्ष्य में अत्यन्त युक्तिसंगत व सम-सामयिक है। विज्ञान ने आज इतनी उन्नति की है, फिर भी व्यक्ति आज जितनी दु:खी है उतना पहले कभी नहीं था। ऐसी तनावग्रस्त व व्यस्त दिनचर्या में कुछ क्षण अपने शरीर व मन को ऊर्जावान तथा स्वस्थ रखने के लिए अति आवश्यक है। जिसके लिए योग, प्राणायाम, ध्यान का नियमित अभ्यास अति आवश्यक है। योगासनों से शरीर स्वस्थ, रोगमुक्त तथा प्राणायाम से मन शान्त होता है ध्यान धारण करने से जागरूकता आती है और व्यक्ति वर्तमान में जीने की कला सीख जाता है। जब ऐसा होता है, तो ऊर्जा का उर्ध्वगमन होता है और शरीर में शक्ति का संचार होता है। मन एकाग्र हो जाता है और आत्मविश्वास पैदा होती है। हम एक सामाजिक प्राणी है तथा हमारा जीवन समस्याओं से भरा पड़ा है। ऐसी स्थिति में हम समस्याओं से भाग सकते नहीं हैं, अत: उनका धैर्यपूर्वक सामना करने की शक्ति हमें योग से प्राप्त होती है। शरीर व मन स्वस्थ्य रहने से प्रसन्न होंगे। हमारी प्रसन्नता आनन्द का रूप ले लेगी। इसी आनन्द का दूसरा नाम परमात्मा है। हम सबके अन्दर एक ही परमात्मा के दर्शन करेंगे और समस्त विश्व में शान्ति व सुख की मंगल कामना करेंगे। इसीलिए हमारे प्राचीन शास्त्रों में प्रतिदिन ऐसी प्रार्थना करने पर बल दिया गया है।

***

हिन्दी साहित्य में ध्वनि की अवधारणा

ममता त्रिपाठी*

संस्कृत काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का प्रभाव एवं उनका पठन-पाठन संस्कृतेतर भारतीय भाषाओं में सहज ही देखा जा सकता है। हिन्दी, मराठी, तमिल, तेलुगु, कन्नड़, मलयालम, बांग्ला एवं गुजराती आदि भाषाओं में काव्यशास्त्रीय पठन-पाठन एवं साहित्य-मीमांसा संस्कृत काव्यशास्त्र को ही आधार बनाकर होती है। इन भाषाओं में प्रत्यक्ष रूप से संस्कृत काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों की स्वीकृति है, ऐसा विश्वविद्यालयी समीक्षाशास्त्र, आलोचनाशास्त्र के पाठ्यक्रम के अवलोकन से सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त इसकी पुष्टि इन भाषाओं में अनूदित संस्कृत काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों से भी होती है।

हिन्दी साहित्य में वीरगाथा काल के अन्तर्गत अनेक वीरगाथाओं, वीरगीतों और साधारण नीतिपरक स्फुट साहित्य मिलता है। इस काल में साहित्यशास्त्रीय सिद्धान्तों की चर्चा का कोई लिखित प्रमाण नहीं प्राप्त होता। इस काल में निर्गुण काव्यधारा प्रवाहित हुई। हालांकि इस काल के कवि सिद्धान्त एवं व्यवहार, दोनों दृष्टियों से शास्त्रीय परम्परा से अनभिज्ञ थे। फिर भी इनके काव्य का ध्वनिसिद्धान्त से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। इनके काव्य के रहस्यवाद का ध्वनिसिद्धान्त से अनिवार्य सम्बन्ध है क्योंकि रहस्य का कथन नहीं हो सकता मात्र व्यञ्जना हो सकती है।[१]

सांकेतिक भाषा और व्यञ्जना के द्वारा ही रहस्यवाद का कथन हो सकता है। इसीलिये कबीर ने अपने रहस्यानुभव को गूँगे का गुड़ बताते हुये सैना-बैना के द्वारा ही उसकी अभिव्यक्ति सम्भव मानी है।[२] भक्तिकालीन प्रेममार्गी निर्गुणकाव्यधारा के कवियों की रचनाएँ भी ध्वनिकाव्य के अन्तर्गत ही आती हैं। मलिक मुहम्मद जायसी ने अपने काव्य को अन्योक्ति कहा है।[३] प्रबन्धगत अन्योक्ति अथवा समासोक्ति का मूलार्थ सर्वथा ध्वनित होता है, गूढ़व्यंग्य पर आधारित होता है। परन्तु इस प्रकार के अन्योक्ति या रूपक काव्य के द्वारा रस की व्यञ्जना न होकर अन्ततः सिद्धान्त (वस्तु) की ही व्यञ्जना होती है इसलिये यह उत्तमोत्तम (रसध्वनि) काव्य के अन्तर्गत नहीं आता। यह वस्तुतः वस्तुध्वनि के अन्तर्गत ही ठहरता है।[४]

इसके बाद रामभक्ति एवं कृष्णभक्ति शाखा के लगभग सभी कवि शास्त्रनिष्ठ थे। उनके दर्शन एवं काव्य दोनों का शास्त्रीय परम्परा से पूर्ण परिचय था। गोस्वामी तुलसीदास ने प्रत्यक्षरूप से 'स्वान्तःसुखाय रघुनाथगाथा' का वर्णन एवं अप्रत्यक्ष रूप से लोकधर्म की प्रतिष्ठा अपने काव्य का उद्देश्य माना है। उनके काव्य में आत्मरञ्जन एवं लोकरञ्जन का पूर्ण समन्वय, व्यक्तिपरक और वस्तुपरक दृष्टिकोणों का सामञ्जस्य सहज ही देखा जा सकता है। उन्होंने काव्य के उपकरणों के विषय में लिखा है–

---

* अध्येता, विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली-६७

आखर अरथ अलंकृति नाना। छन्द प्रबन्ध अनेक विधाना।।
भाव भेद रस भेद अपारा। कवित दोष गुन विविध प्रकारा।।

उपर्युक्त उद्धरण में उन्होंने शब्दार्थ, अलंकार, छन्द, दोष, रस और भाव को काव्य का उपकरण स्वीकार्य किया है, परन्तु ध्वनितत्त्व की चर्चा नहीं की है। उन्होंने 'रामचरितमानस' के आरम्भ में ही कहा है–

वर्णानां नामर्थसङ्घानां रसानां छन्दसामपि।
मङ्गलानां च कर्तारौ वन्दे वाणीविनायकौ।[५]

इसके बाद मम्मट के 'काव्यप्रकाश' का अनुसरण करके अनेक आचार्यों ने काव्य के सर्वाङ्ग का विवेचन किया, जिनमें कुलपति, श्रीपति, दास तथा प्रतापसाहि प्रमुख हैं। ये कवि मम्मट की भाँति ही ध्वनि अथवा रसध्वनिवादी थे। कुलपति ने स्पष्टरूप से ध्वनि को काव्य की आत्मा माना है–

व्यंग्य जीव ताको कहत, शब्द अर्थ है देह।
गन गुन, भूषन भूषनैं, दूषन दूषन देह।।[६]

अर्थात् व्यंग्य आत्मा है, शब्द-अर्थ शरीर हैं।

कवि प्रतापसाहि (१८२३-१८४३ ई०) तो ध्वनिवादी के रूप में ही स्वीकृत थे। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'काव्य-विलास' की रचना ध्वनिसिद्धान्त के आधार पर ही की है तथा काव्य का स्वरूप तथा काव्य के भेद आनन्दवर्द्धन के अनुसार ही बताये हैं।[७]

रीतिकालीन कवियों में व्यंग्य का सर्वोत्तमरूप प्रतापसाहि और बिहारीलाल में ही प्राप्त होता है। यद्यपि बिहारी ने प्रतापसाहि की भाँति किसी लक्षण-ग्रन्थ की रचना नहीं की फिर भी उनके काव्य की प्रवृत्ति सर्वथा ध्वनिवाद के अनुकूल ही थी। उन्होंने अपने गुरु से ओरछा में जाकर काव्यशास्त्र की विधिवत् शिक्षा ग्रहण की थी।[८] उनकी रचना 'बिहारी सतसई' के विषय में प्रसिद्ध है–

सतसैया के दोहरे, ज्यों नावक के तीर।
देखन में छोटे लगें, घाव करे गम्भीर।।

अर्थात् सतसई के दोहे बहुअर्थवान् हैं। नावक के तीर[९] की भाँति देखने में ये बहुत छोटे हैं पर इनमें 'गागर में सागर' है। बिहारी के विषय में यह दोहा निश्चय ही व्यंग्य-गुण की प्रशस्ति है। चिन्तामणि (१६०९ ई०) ने 'कविकल्पतरु' नामक ग्रन्थ लिखा है, जिसमें उन्होंने ध्वनिसिद्धान्त को स्वीकार किया है।

आधुनिककाल के अन्तर्गत भारतेन्दु युग में कविता के प्रति दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ। इस युग में कविता एक नूतन पथ का निर्माण कर रही थी, जो जीवन की वास्तविकताओं का पथ था। यह दृष्टिकोण द्विवेदी युग आते-आते अथिर हो गया। कविता ने जीवन की वास्तविकता को अपना संवेद्य मान लिया। व्यवहारतः हिन्दी साहित्य के इस युग में ध्वनि का घोर तिरस्कार हुआ। यह हिन्दी साहित्य में ध्वनि के पराभव का चरम काल था।[१०] पण्डित कृष्णबिहारी मिश्र ने संस्कृत काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों अलंकार, रस और ध्वनि की स्थान-स्थान पर चर्चा की है। परन्तु समग्र दृष्टि से ये रसवादी ही हैं। पण्डित पद्मसिंह शर्मा, बिहारी के काव्य को उत्तम काव्य मानते थे और उनका झुकाव ध्वनिचमत्कार की ओर अधिक था। ये व्यंग्यचमत्कार के प्रति आग्रह तथा काइयाँपन और बाँकपन के हामी होने के कारण ध्वनिसम्प्रदाय के अन्तर्गत आते थे।[११] इन्होंने स्थान-स्थान पर बिहारी के दोहों में ध्वनिसौन्दर्य पर बल दिया है–

"इस प्रकार स्थलों में (जहाँ बिहारी पर पूर्ववर्ती महाकवियों की छाया है) ऐसा कोई अवसर नहीं, जहाँ इन्होंने 'बात में बात' न पैदा कर दी हो।"[१२]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल वस्तुतः रसवादी आचार्य हैं। उन्होंने व्यञ्जना वहाँ तक स्वीकार की है जहाँ तक उसका सम्बन्ध किसी न किसी प्रकार भाव से अवश्य हो–

"हमारे यहाँ के पुराने ध्वनिवादियों के समान आधुनिक 'व्यञ्जनावादी' भी भावव्यञ्जना और वस्तुव्यञ्जना दोनों में काव्यतत्त्व मानते हैं। उनके निकट अनूठे ढंग से की हुई व्यञ्जना भी काव्य ही है। इस सम्बन्ध में हमारे यही वक्तव्य है कि अनूठी से अनूठी उक्ति काव्य तभी हो सकती है जब कि उसका सम्बन्ध– कुछ दूर का सही– हृदय के किसी भाव या वृत्ति से होगा।"[१३]

आचार्य शुक्ल जी के बाद सेठ कन्हैयालाल पोद्दार एवं पण्डित रामदहिन मिश्र का नाम ध्वनि के प्रसंग में उल्लेखनीय है। सेठ कन्हैयालाल जी ने 'काव्यप्रकाश' के आधार पर हिन्दी में ध्वनि की विस्तार से व्याख्या की है। इसके बाद छायावाद का आगमन हुआ। यह छायावादी कविता व्यञ्जना से परिपूर्ण है। जयशंकर प्रसाद ने छायावाद के व्युत्पत्ति–अर्थ के मूल में ही व्यञ्जना का आधार माना। जिस प्रकार मोती में वास्तविक सौन्दर्य उसकी छाया है, जो दाने की सारभूत छवि के रूप में पृथक् ही झलकती है, इसी प्रकार काव्य में वास्तविक सौन्दर्य उसकी ध्वनि है जो शब्दों के वाच्यार्थ से पृथक् ही व्यञ्जित होती है।

सन्दर्भ सूची :

१. आचार्य विश्वेश्वर, (भाष्य) आचार्य आनन्दवर्द्धन– ध्वन्यालोक, भूमिका, पृ० २३

२. वही, पृ० २३

३. मलिक मुहम्मद जायसी– पद्मावत

४. आचार्य विश्वेश्वर, (भाष्य) आचार्य आनन्दवर्द्धन– ध्वन्यालोक, भूमिका, पृ० २३

५. गोस्वामी तुलसीदास– रामचरितमानस, १.१

६. आचार्य कुलपति– रसरहस्य, पृ० ३७

७. कवि प्रतापसाहि– काव्यविलास– व्यंग्य जीवन कहि कवित्त को हृदय सुधुनि पहिचानि। शब्द अर्थ कहि देह पुनि भूषण भूषण जानि।। (भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा, पृ० ४०३)

८. काव्य संकलन, कक्षा १०, उ०प्र०मा०शि० परिषद्

९. 'नावक के तीर' आकार में छोटे होते हुए भी अपनी तीक्ष्णता के लिये विख्यात है।

१०. आचार्य विश्वेश्वर (भाष्य) आचार्य आनन्दवर्द्धन– ध्वन्यालोक, भूमिका, पृ० २६

११. वही, पृ० २६

१२. आचार्य पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'– बिहारी सतसई, पृ० २५

१३. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल– चिन्तामणि– भाग २, पृ० ९७

***

भारत में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश का अन्तर्प्रवाह

डॉ० दीपक कुमार सिंह*

वैश्वीकरण की प्रक्रिया शुरू होने के बाद भारत जैसे विकासशील देशों में इसके तात्कालिक कारणों की समीक्षा होने लगी कि तीसरी दुनिया के देशों पर लादे गये अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोश, विश्व बैंक समायोजन का असली मकसद विकसित देशों से पूँजी प्रवाह के लिए भारत सहित विकासशील देशों की अर्थव्यवस्थाओं को खोलने के लिए बाध्य करना था। दुनिया का सबसे शक्तिशाली देश अमेरिका सहित विकसित देशों द्वारा भारत सहित तीसरी दुनिया के तमाम देशों की शासन व्यवस्थाओं ने अपनी-अपनी अर्थव्यवस्थाओं में विदेशी निवेश को सीमित करने का प्रयास किया।

भारत सरकार भी प्रत्यक्ष विदेशी निवेश पर से प्रतिबन्ध हटाने में काफी तेजी दिखाई। सुधारों के दूसरे चरण में इसने प्रत्यक्ष विदेशी निवेश पर से लगभग सारे प्रतिबन्ध हटा लिये हैं। जिन क्षेत्रों में विदेशी निवेश के लिए अनुमति की जरूरत नहीं होती ऐसे क्षेत्रों में विदेशी निवेश के लिए अनुमति की जरूरत नहीं होती ऐसे क्षेत्रों की संख्या काफी बढ़ा दी गई है। इन क्षेत्रों में विदेशी निवेश की हिस्सेदारी की अधिकतम सीमा को भी बढ़ाते हुये कुछ क्षेत्रों में तो १०० प्रतिशत तक कर दिया गया है।[१] मुरासोली मारन (तात्कालीन केन्द्रीय वाणिज्य मंत्री) के शब्दों में– "इण्डिया फीवर (भारत के प्रति बेताबी) पैदा करना है।"[२] जिससे प्रत्यक्ष विदेशी निवेश का औसत १० अरब डालर प्रतिवर्ष तक पहुँचाया जा सके। यह लक्ष्य सबसे पहले १९९६ में वामपंथी रुझानों वाली संयुक्त मोर्चा सरकार द्वारा निर्धारित किया गया था। बाद की सरकारें इसे दुहराती रही हैं। इस लक्ष्य को हासिल करने के लिए विदेशी निवेशकों को लुभाने वाली तरह-तरह की योजनाएँ पैदा की जा रही है– सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों को मिट्टी के मोल बेचने से लेकर लाभों की स्वदेशी-वापसी पर लगे प्रतिबन्धों को हटाने तक।

पूरे देश पर ही 'बिक्री के लिए' का बोर्ड लगा देने के बावजूद प्रत्यक्ष विदेशी निवेश का अन्तर्प्रवाह का १० अरब डालर का लक्ष्य अब तक छलावा ही सिद्ध हुआ है। जो कि निम्न तालिका से स्पष्ट है[३]–

भारत में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश का अन्तर्प्रवाह करोड़ (अमेरिकी डालर में)

वर्ष ९९-००	९८-९९	९७-९८	९६-९७	९५-९६	९४-९५	९३-९४	९२-९३	९१-९२
प्रत्यक्ष विदेशी निवेश २२०.००	२४६.२	३५५.७	२८२.१	२१४.४	१३१.४	५८.६	३१.५	१२.९

अन्तर्प्रवाह

प्रत्यक्ष विदेशी निवेश अन्तर्प्रवाह औसतन २ अरब डालर प्रतिवर्ष से भी कम रहा है महज १९९७-९८ में ३.६ अरब डालर तक किसी तरह से पहुँचा था मगर तब से लगातार गिरते हुए १९९८-९९ में २.५

* प्रवक्ता, अर्थशास्त्र विभाग, डी०ए०वी०पी०जी० कालेज, गोरखपुर

अरब डालर तथा १९९९-२००० में २.२ अरब डॉलर हो गया। इसे 'वैश्विक पूँजी प्रवाह' नाम देना भी उचित नहीं है। वास्तव में इसे बहुराष्ट्रीय निगमों का ही हाथ होता है। इन बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के आकारों में भी भारी विषमता के कारण प्रत्यक्ष विदेशी निवेश का बड़ा हिस्सा मुट्ठीभर बड़ी कम्पनियों के खाते से आता है। विदेशी परिसम्पत्तियों के विशालता के आधार पर क्रम बताएँ तो १०० सबसे बड़े बहुराष्ट्रीय निगमों के हाथों में कुल वैश्विक परिसम्पत्तियों (ग्लोवल फॉरेन एसेट्स) का पाँचवाँ हिस्सा १७०० अरब डॉलर केन्द्रित है।[४]

भारत में निवेश करने वाली विदेशी कम्पनियों की लाभ वापसी का पैमाना क्या रहा है? तीसरी दुनिया के अन्य देशों को जिस लूट का शिकार होना पड़ा है क्या हम उससे बच गये हैं? भारत के एक प्रतिष्ठित व्यावसायिक समाचार पत्र 'दि इकोनोमिकल टाइम्स' के हाल में छापे गए सम्पादकीय के अनुसार "(विदेशी मुद्रा के बड़े पैमाने के बहिर्प्रवाह के बारे में) जो गम्भीर चिन्ताएँ व्यक्त की जा रही थी, वे सच साबित नहीं हुई.... व्यवहार में ऐसा बहिर्प्रवाह नहीं दिखा है।"[५]

प्रत्यक्षविदेशी निवेश के चलते होने वाले विदेशी मुद्रा के बहिर्प्रवाह से संबंधित आँकड़े इकट्ठा करना, विश्लेषित करना और प्रकाशित रिजर्व बैंक का काम है। मगर हाल के वर्ष में रिजर्व बैंक इस काम में काफी नरम रहा है। अतः हमें रिजर्व बैंक के सर्वेक्षणों के माध्यम से मिलने वाली सीमित जानकारियाँ से ही काम चलाना होगा। इनमें से कुछ तथ्यों का ब्यौरा निम्न लिखित है–

रिजर्व बैंक हर पाँचवें साल भारतीय कम्पनियों में विदेशी सहयोग के बावत् सर्वेक्षण करवाया करता था। जहाँ तक हमारी जानकारी है ऐसा नवीनतम सर्वेक्षण अगस्त, १९९५ के रिजर्व बैंक के समाचार के माध्यम प्राप्त हुआ था। जिसमें १९८१-८२ ई० से १९८५-८६ ई० की अवधि के आकड़ें हैं। हालाकि पाँच वर्ष की इस अवधि में विदेशी सहयोग के प्रस्तावों को भारी संख्या में मंजूरी मिली और ३००० हजार से ज्यादा प्रस्ताव वास्तविक 'कोर्लेवोरेगन' परिणत हुये। फिर भी उक्त सर्वेक्षण में ७२० कम्पनियों के ९४२ 'कोर्लेबोरेगन' शामिल किये गये हैं। इसमें से ४७ कम्पनियाँ ऐसी थी जिनमें विदेशी भागीदारी बहुलांश (१९८५-८६) में औसत कुल पूँजी की ५८.०६ प्रतिशत थी, ४११ कम्पनियाँ ऐसी थी जिनमें विदेशी भागीदारी न्यूनांश (१९८५-८६ में औसतन कुल पूँजी की २८.०३ प्रतिशत) थी और २६२ कम्पनियों में शुद्ध तकनीकी कोर्लेबोरेशन थे।

इस प्रकार कह सकते हैं कि साम्राज्यवादी शक्तियाँ तीसरी दुनिया के उत्पादक परिसम्पत्तियों पर कब्जा करके ही संतुष्ट नहीं है। वे भारत सहित इन देशों की अर्थव्यवस्थाओं को इस तरह से बदल देना चाहती है ताकि इनसे जितना ज्यादा संभव हो, उतना मुनाफा निचोड़ सके- आखरी बूँद तक। भारत सहित तीसरी दुनिया के देशों में हो रहे इन सभी बदलावों को बेहतर ढंग से समझने के लिए हमें विदेशी निवेशकों के कार्य पद्धति के साथ-साथ उनके प्रकृति को समझने की आवश्यकता है कि भारतीय अर्थव्यवस्था पर धीरे-धीरे कब्जा करती जा रही हैं और इसे फिर से ढाल रही हैं ताकि अपनी त्रुटि को अधिकतम बढ़ा सकें।

संदर्भ सूची :

१. यू०एन०आई० रिपोर्ट, टी०एच०पी०एल०, १२-०२-२००० और सी०पी० चन्द्रशेखर, एफ०एल०, ३ मार्च २०००, पृ० ०९
२. टी०एच०बी०एल०, ३/२/२०००
३. १९९१-९२ से १९९८-९९ तक ई.पी.डब्ल्यू० अंक ११ मार्च, २०००, पृ० ८५९ उल्लिखित आर्थिक सर्वेक्षण से
४. भू० एन० रिपोर्ट, ई० पी० डब्ल्यू०, अंक ११०-१११, अक्टूबर-नवम्बर, १९९९, पृ० १९
५. ई०टी०, ०४/०१/२०००।

***

वर्तमान भारतीय राजनीतिक दशा

चन्द्रशेखर सिंह*

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत में ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन का अन्त हो गया और भारत में संसदीय लोकतांत्रिक अवस्था का प्रादुर्भाव हुआ। हमारे संविधान निर्माताओं की लोकतंत्र में भरपूर आस्था थी। उनका उद्देश्य संविधान की सर्वोच्चता एवं स्वतंत्रता, समानता, न्याय, सम्पूर्ण लोकतांत्रिक गणराज्य, राष्ट्र की एकता और अखण्डता के साथ जनप्रिय सरकार की स्थापना करना था।

पिछले छः दशकों से चले आ रहे वाद-विवाद और आन्तरिक एवं बाह्य दबावों के बावजूद स्वतंत्रता के बाद के वर्षों में भारतीय राजनीति अपनी लोकतांत्रिक मूल्यों की रक्षा करने में सफल रहा है। भारतीय लोकतंत्र का सुदृढ़ एवं सफल बनाने में संसद, न्यायिक प्रक्रिया, सतर्क मीडिया, जागरूक बुद्धिजीवी वर्ग, चुनाव आयोग और संगठित कार्यकारी वर्ग की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। भारतीय राजनीति की दशा का विचार किया जाय तो राजनीति का अपराधीकरण एवं अपराध का राजनीतिकरण, उत्तरदायित्व का अभाव, धनशक्ति और भुजबल का प्रमुख, धर्मवाद, जातिवाद, गरीबी बेरोजगारी, महिलाओं का शोषण, निर्धनों एवं अल्पसंख्यक समूहों का दमन, क्षेत्रवाद, भाषावाद एवं लिंग-भेद का कुप्रभाव जैसी त्रुटियाँ सामने प्रमुख रूप से आती हैं।[१]

वर्तमान समय में भारतीय राजनीतिक अवस्था की दशा को सर्वाधिक प्रभावित करने वाले कारकों में आतंकवाद एवं व्यापक भ्रष्टाचार अपने गिरफ्त में ले रखा है। जिसका उपचार गाँधीवादी मूल्यों के द्वारा हल करने का प्रयास किया जा रहा है। गाँधी जी ने कहा था– ''मेरे राष्ट्र का लोकतंत्र? ऐसा होगा, जहाँ दुर्बल और शक्तिशाली दोनों को समान पूछना चाहिए क्या हम दो प्रकार का भारत का निर्माण कर रहे हैं? एक भारत ऐसा है जहाँ मुट्ठी भर लोग सभी प्रकार के अवसरों का लाभ उठाते हैं और दूसरी ओर एक ऐसा भारत है जहाँ अधिकतर क्षेत्रों के अधिसंख्य लोग दयनीय और नरकीय जीवन जीने के लिए विवश हैं– वे जनजातीय लोग जिनका शोषण होता आ रहा है। वे बच्चे जो गुजर-बसर करने के लिए छोटी-सी आयु में काम करते हैं, वे महिलाएँ जो वर्षों से पुरुषों के अत्याचारों का शिकार हो रही हैं ऐसे लोगों को प्यार का अधिकार और गौरव की चाह है।

भारतीय राजनीति की दशा पर प्रकाश डालते हुए, १९५१ ई० में, सुविख्यात लेखक ई०एस० फोस्टर ने कहा था– ''दो बातों के लिए लोकतंत्र की जय-जयकार की जानी चाहिए, एक इस बात के लिए कि इसमें विविधताएँ स्वीकार्य होती हैं और दूसरी इस बात के लिए कि इसमें आलोचना करने की अनुमति होती है।''[२] लेकिन भारतीय राजनीति में छः दशक बीत जाने के बाद विविधता और आलोचना के

---

* प्रवक्ता, राजनीतिशास्त्र विभाग, डी०ए०वी०, पी०जी० कालेज, गोरखपुर

अर्थ इतने बदल चुके हैं कि आज ये विरोधाभाषी हो गए हैं। आज जहाँ लोकतंत्र के मुखौटे के पीछे अहंवाद पर केन्द्रित राजनीति पूरी तरह हावी है वहीं लोकतंत्र और विकास दोनों का एक साथ चलना कठिन होता जा रहा है। भारतीय राजनीति की दशा पर दृष्टिपात किया जाय तो स्पष्ट होता है कि इसका वर्तमान स्वरूप अपने राजनीतिक, नैतिक, सामाजिक एवं मानवीय मूल्यों को खोता हुआ दृष्टिगोचर होता है। भ्रष्टाचार, महँगाई आतंकवाद एवं बेरोजगारी ऐसे मुद्दे हैं जो भारतीय राजनीति की हालत को ठीक उस प्रकार बना दिया है, जैसे कोई मरीज स्वस्थ होने के लिए औषधि तो अपने पास रखा है लेकिन उसे खा इसीलिए नहीं रहा है कि कहीं वह ठीक न हो जाए।

पिछले कई वर्षों से यह एक आम रवैया बन चुका है कि देश के सामने जैसे ही कोई समस्या आती है, वैसे ही उसका नाम 'संकट' कर दिया जाता है। किसी एक समस्या या कुछ मिली-जुली समस्याओं को समझने के लिए अपनाया जाने वाला यह तरीका गंभीर विश्लेषण के लिए किसी अवधारणात्मक औजार का काम नहीं कर पाता। जनलोकपाल के मुद्दे पर भारतीय राजनीतिक प्राधिकार की वैधता का क्षय भारतीय राजनीतिक दशा के वर्तमान स्वरूप को रेखांकित करता है। भारतीय राजनीति प्रणाली शिथिलता की शिकार है। पिछले कई वर्षों से यह एक आम धारणा बन चुका है। भारतीय राजनीति का वर्तमान हालत संकटग्रस्त है तो किन्हीं खास-समस्याओं को अलग से हल करने की कोशिश ज्यादा-से-ज्यादा आग को और न भड़कने देने जैसी ही होगी। होना यह चाहिए कि समूचे संकट का निबटारा करने के लिए उस समय संस्थाओं, संरचनाओं और मूल्यों के आपसी संबंधों की अवस्था में आपका समाज में हुए बदलाव के मुताबिक आमूल-परिवर्तन की कोशिश की जाये। भारतीय राजनीति में संकट के समय समस्याएँ हल करना प्रशासनिक प्रबंधकीय कौशल से बाहर की चीज हो जाती है। उसके लिए सतत राजनीतिक और सामाजिक हस्तक्षेप की जरूरत होती है। वर्तमान राजनीतिक संकट के आख्यान की शुरूआत उसकी प्रकृति के वर्णन से की जाये और फिर देखा जाय कि उसके इस वक्त और इस रूप में फूट पड़ने के पीछे सामाजिक और आर्थिक संरचनाओं में आये बदलावों का कितना योगदान है। इस प्रकार मौजूदा भारतीय राजनीतिक संकट अपने बुनियादी अर्थों में राजनीतिक प्राधिकार की वैधता का संकट है।

क्या संकटग्रस्त भारतीय राजनीति और उनकी संस्थाएँ ऐसी कार्यसूची बनाकर लागू कर सकती है? फिलहाल अपराध और भ्रष्टाचार राजसत्ता द्वारा हल किये जा सकने वाली बाहरी समस्याएँ न रहकर सत्ता का आधार ही बन गयी हैं। ऐसे में यह सोच पाना मुश्किल है कि तमाम अच्छे इरादों और कानूनों के बावजूद राजनीतिक और दलीय अवस्था में वास्तविक सुधार या राजनीतिक और आर्थिक सत्ता के विकेन्द्रीकरण की सच्ची कोशिशें राजनीतिक अप्सरशाही के स्तर पर हो सकती है।

भारतीय राजनीति में अपराधियों की महत्वपूर्ण भूमिका को अनदेखी नहीं की जा सकती। प्रारम्भिक वर्षों में राजनेता अपराधियों का प्रयोग अपनी सुरक्षा तथा अन्य हितों के लिए करते थे, धीमे-धीमे अपराधी स्वयं राजनीतिक नेता बनने लगे। राजनीति में अपराधियों, गुण्डों, असामाजिक तत्वों का वर्चस्व बढ़ने लगा और अपराधियों का राजनीतिकरण तथा राजनीति का अपराधीकरण हो गया। भारतीय राजनीति में अलगाववादी शक्तियाँ सक्रिय हैं। भारत के सीमावर्ती राज्यों जम्मू-कश्मीर, असम, मिजोरम, पंजाब, उ०प्र० में अलगाववादी आन्दोलन तेजी पकड़ ली है। सम्प्रदायवाद निश्चित रूप से भारतीय राजनीति की दशा के लिए उत्तरदायी है। इसके अन्तर्गत वे सभी भावनाएँ तथा क्रियाकलाप आ जाते हैं जिनके आधार पर किसी विशेष समूह के हितों पर बल दिया जाय और उन हितों को राष्ट्रीय हितों के ऊपर भी प्राथमिकता

दी जाय। इनके अतिरिक्त क्षेत्रवाद, भाषावाद, जातिवाद, अशिक्षा, गरीबी, बेरोजगारी एवं भ्रष्टाचार ऐसे मुद्दे हैं। जो भारतीय राजनीति के वर्तमान दशा के लिए उत्तरदायी हैं। भारत में धर्म और साम्प्रदायिकता ने राजनीतिक अवस्था को अत्यन्त प्रभावित किया है। धर्म के आधार पर भारत का विभाजन हुआ और पाकिस्तान के निर्माण के उपरान्त भी देश में सिख, पारसी, जैन, ईसाई, बौद्ध धर्मों के अलावा इस्लाम के अनुयायी विद्यमान हैं।

जातिवाद के संदर्भ में 'हेरल्ड गोल्ड' का मत है "राजनीति का आधार होने के बजाय जाति उसको प्रभावि करने वाला एक तत्व है। रजनी कोठारी लिखते हैं कि "जाति के बंधन को स्वीकार करने और राजनीतिक सौदेबाजी और गठबंधन में उसका सहारा लेने के कारण उसको देश की राजनीति अवस्था में स्थान देना तथा उसे राजनीतिक संगठन का आधार बनाना आसान हो गया है।"[३] एम० एन० श्रीनिवास के अनुसार- "संख्या की दृष्टि से बड़ी-बड़ी जातियाँ तो जिला और राज्य स्तरों पर राजनीतिक दबाव गुट बन गए हैं।" क्षेत्रीय विवाद भी राजनीतिक अवस्था को प्रभावित करते हैं क्षेत्रीय समस्याएँ राजनीतिक आन्दोलन को जन्म देती हैं। भाषा राजनीतिक अवस्था के विभिन्न तत्वों और अंगों को जोड़ती है। वर्तमान भारतीय राजनीतिक की दशा के लिए क्षेत्रीय भाषा भी कम उत्तरदायी नहीं है। हाल ही में महाराष्ट्र में राज ठाकरे द्वारा हिन्दी भाषी उत्तरप्रदेश एवं बिहार प्रान्त के लोगों के साथ अमानवीय एवं असंसदीय व्यवहार इसीलिए किया गया क्योंकि इन लोगों को मराठी भाषा का ज्ञान नहीं है और ये लोग वहाँ के राजनीतिक अस्थिरता के लिए जिम्मेदार हैं।[४]

भारतीय राजनीति ने केवल अव्यवस्था वरन् अस्थिरता से भी ग्रसित रही है। १९६७ ई० से अब तक (२०११ ई०) राज्य स्तर पर निरन्तर अस्थिरता की स्थिति और १९७७-७९ ई० एवं १९८९-२०११ ई० के काल में केन्द्रीय स्तर पर भी यह स्थिति देखी गई। १९८९ से २००९ ई० तक के वर्षों में राष्ट्रीय स्तर पर भयंकर अस्थिरता एवं अनिश्चय की स्थिति उभरी। इस काल में १० प्रधानमंत्री हुए, ०७ बार आम चुनाव हुए और अल्पमतीय एवं गठबंधन सरकारों का सिलसिला चल पड़ा।[५]

इस प्रकार भारतीय राजनीतिक अवस्था का भविष्य यथार्थ में उसकी आर्थिक उन्नति और सामाजिक न्याय की अवस्थाओं पर ही निर्भर करता है। अतः आर्थिक दृष्टि से नए कीर्तिमान स्थापित करने होंगे, मँहगाई रोकनी होगी और भ्रष्टाचार के लिए कठोर कानून की आवश्यकता होगी। देश में स्थायी सरकार तथा नैतिक मूल्यों को अपनाना होगा। तभी भारतीयों राजनीतिक दशा को सुदृढ़ एवं पारदर्शी बनाया जा सकता है।

संदर्भ सूची :

१. गोयल, ओ०पी०- कॉस्ट एण्ड वोटिंग विहेवियर, पृ० ११
२. कौशिक, सुशीला- भारतीय शासन और राजनीति
३. कोठारी, रजनी- पोलिटिक्स इन इण्डिया
४. त्रिवेदी, आर०एस० एवं एम०पी० राम- "भारतीय शासन एवं राजनीति
५. श्रीनिवास, एम०एन०- कॉस्ट इन मार्डन इण्डिया, पृ० ३-५

***

शिक्षक-प्रशिक्षकों की कार्य-सन्तुष्टि एवं शिक्षण प्रभावशीलता

डॉ० रजनीश कुमार सिंह*

अध्यापक चाहे शिक्षक हो या शिक्षक–प्रशिक्षक उसकी व्यावसायिक एवं नैतिक सफलता, उसके विद्यार्थी की उपलब्धि पर निर्भर करती है जो उसके द्वारा सीखे गये ज्ञान अर्थात् अधिगम की प्रभावशीलता को प्रदर्शित करती है। आज शिक्षक को द्रोणाचार्य का नहीं, अपितु गुरु वशिष्ठ, विश्वामित्र, समर्थ गुरु रामदास, दादा कोणदेव, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी रामतीर्थ, विरजानंद का आदर्श सन्मुख रखना होगा। यही शिक्षक का जीवन दर्शन है जिसे अपने आचरण से प्रमाणित करना होगा, वाणी से सार्थक करना होगा, कर्म से प्रगट करना होगा और ज्ञान से प्रकाशित करना होगा।[२]

शिक्षण एक ऐसी प्रक्रिया है जो कि शिक्षक के माध्यम से विद्यार्थी को सीखने के लिये प्रेरित करती है। शिक्षण– शिक्षक का मुख्य लक्ष्य एवं व्यावसायिक उत्तरदायित्व है जिसकी सफलता प्रभावी अधिगम है जो कि शिक्षार्थी के व्यवहार–परिवर्तन में परिलक्षित होता है। इस प्रकार शिक्षण–अधिगम परिस्थितियाँ जितनी अधिक सुदृढ़ होंगी, शिक्षा प्रक्रिया उतनी ही अधिक प्रासंगिक एवं सफल होगी जो कि शिक्षक की कार्य–प्रणाली पर निर्भर है। हम जानते हैं कि व्यक्ति की मानसिक क्रिया उसकी मानसिक स्थिति पर निर्भर करती है। व्यक्ति मानसिक रूप से जितना सुदृढ़ एवं संतुष्ट होगा, उसकी कार्यदक्षता उतनी ही उत्तम होगी। अत: प्रशिक्षण के लिये शिक्षक–प्रशिक्षक मानसिक रूप से स्वस्थ एवं प्रशिक्षण कलाओं में निपुण होने चाहिये तभी वह शिक्षण–अधिगम परिस्थिति में अपने प्रशिक्षुओं अर्थात् भावी शिक्षकों में वांछित शिक्षण–कौशलों का विकास कर सकते हैं। अत: शिक्षक प्रशिक्षकों की कार्य–सन्तुष्टि एवं शिक्षण प्रभावशीलता का अध्ययन वर्तमान समय में अति आवश्यक हो जाता है।[३] प्रस्तुत अध्ययन में उपरोक्त चरों के सन्दर्भ में सहसम्बन्धात्मक अध्ययन के द्वारा शिक्षक–प्रशिक्षकों की वर्तमान स्थिति को जानने का प्रयास किया गया है।–

अध्ययन की विधि– प्रस्तुत अध्ययन में चरों की प्रकृति को ध्यान में रखते हुये 'वर्णनात्मक सर्वेक्षण विधि' का प्रयोग किया गया है।

न्यादर्श– यह अध्ययन डॉ० भीमराव अम्बेडकर विश्वविद्यालय, आगरा से सम्बद्ध शिक्षक–प्रशिक्षण संस्थानों में कार्यरत शिक्षक–प्रशिक्षकों पर किया गया है। अत: इन संस्थानों में कार्यरत सभी–शिक्षक–प्रशिक्षक अध्ययन की जनसंख्या है। अध्ययन की जनसंख्या में से न्यादर्श का चयन करने के लिये विश्वविद्यालय से सम्बद्ध शिक्षक–प्रशिक्षण संस्थानों की सूची प्राप्त की जिसमें ११ सरकारी सहायता प्राप्त शिक्षक–प्रशिक्षण संस्थान तथा ८७ स्ववित्तपोषित शिक्षक–प्रशिक्षण संस्थान सम्मिलित हैं। स्ववित्तपोषित

* असि० प्रोफेसर, शिक्षा संकाय, ज०रा०वि०वि०, चित्रकूट (उ०प्र०)

संस्थानों में से यादृच्छिक ढंग से न्यादर्श का चयन करके प्रथम प्राप्त ११ शिक्षक-प्रशिक्षण संस्थानों की सूची तैयार की।

उपरोक्त विधि से प्राप्त ११ सरकारी सहायता प्राप्त शिक्षक-प्रशिक्षण संस्थान तथा ११ स्ववित्तपोषित संस्थानों में कार्यरत कुल १८० शिक्षक-प्रशिक्षक इस अध्ययन के न्यादर्श हैं।

अध्ययन के उद्देश्य– प्रस्तुत अध्ययन में जिसमें कि शिक्षक-प्रशिक्षकों की शिक्षण प्रभावशीलता एवं कार्यसंतुष्टि का सहसंबन्धात्मक अध्ययन करना था; के लिये निम्नलिखित उद्देश्य निर्धारित किये गये–

१. स्व-वित्तपोषित शिक्षक-प्रशिक्षण संस्थानों में कार्यरत शिक्षक-प्रशिक्षकों की कार्य सन्तुष्टि का उनकी शिक्षण प्रभावशीलता पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन करना।

२. सरकारी सहायता प्राप्त शिक्षक-प्रशिक्षण संस्थानों में कार्यरत शिक्षक-प्रशिक्षकों की कार्य-संतुष्टि का उनकी शिक्षण प्रभावशीलता पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन करना।

अध्ययन में प्रयुक्त शोध उपकरण– अध्ययन के उद्देश्यों को ध्यान में रखकर निम्नलिखित शोध उपकरणों को अध्ययन में प्रयुक्त किया गया है–

१. 'कार्य सन्तुष्टि मापनी' जो कि डॉ० अमर सिंह एवं डॉ० टी० आर० शर्मा द्वारा संरचित एवं नेशनल साइकोलॉजीकल कारपोरेशन, आगरा द्वारा मुद्रित व प्रकाशित है।

२. पी कुमार एवं डी०एन० मुथा द्वारा निर्मित 'शिक्षक प्रभावशीलता मापनी' एवं नेशनल साइकोलॉजीकल कारपोरेशन, आगरा द्वारा मुद्रित व प्रकाशित।

आँकड़ों का विश्लेषण एवं विवेचन– उपरोक्त शोध उपकरणों को चयनित न्यादर्श पर प्रशासित करके आँकड़ों का संग्रहण किया गया तथा उनके विश्लेषण एवं विवेचन के पश्चात् निष्कर्ष प्राप्त किये गये एवं निम्नलिखित सांख्यिकीय विधियों का प्रयोग करके निष्कर्ष प्राप्त किये गये–

१. माध्यमान,

२. प्रामाणिक विचलन,

३. सहसंबंध।

उपरोक्त के सन्दर्भ में सांख्यिकीय विश्लेषण इस प्रकार है–

उद्देश्य-१

स्ववित्तपोषित संस्थानों में कार्यरत शिक्षक-प्रशिक्षकों की शिक्षण प्रभावशीलता तथा कार्य संतुष्टि चरों के प्राप्तांकों के मध्यमान, प्रामाणिक विचलन तथा सहसम्बन्ध–

चर	मध्यमान	प्रामाणिक विचलन	सहसम्बन्ध
स्ववित्तपोषित संस्थानों के शिक्षक-प्रशिक्षक	२७९.९२	२१.६९	.४६२
सरकारी सहायता प्राप्त	६६.०६	११.५०	

संस्थानों के शिक्षक-प्रशिक्षक

उपरोक्त तालिका में स्ववित्तपोषित संस्थानों में कार्यरत शिक्षक-प्रशिक्षकों की कार्य संतुष्टि का शिक्षण प्रभावशीलता पर पड़ने वाले प्रभाव को ज्ञात करने के लिये सह-सम्बन्ध की गणना की गयी है जिसका मान .४६२ ज्ञात हुआ है जो यह प्रदर्शित करता है कि कार्य संतुष्टि एवं शिक्षण प्रभावशीलता चरों

में साधारण सह–सम्बन्ध है। अतः यह कहा जा सकता है कि स्ववित्तपोषित संस्थानों में कार्यरत शिक्षक–प्रशिक्षकों की कार्य संतुष्टि का शिक्षण प्रभावशीलता पर सामान्य रूप से प्रभाव है एवं उनकी कार्य संतुष्टि और शिक्षण प्रभावशीलता सामान्य रूप से संबंधित है।

उद्देश्य–२

सरकारी सहायता प्राप्त शिक्षक–प्रशिक्षण संस्थानों में कार्यरत शिक्षक–प्रशिक्षकों की कार्य संतुष्टि का उनकी शिक्षण प्रभावशीलता पर पड़ने वाले प्रभाव के अध्ययन के लिये मध्यमान, प्रामाणिक विचलन एवं सहसंबंध का मान–

चर	मध्यमान	प्रामाणिक विचलन	सहसम्बन्ध
सरकारी सहायता प्राप्त संस्थानों में कार्यरत शिक्षक–प्रशिक्षकों की	७४.३४	१.२४	
कार्य–सन्तुष्टि			०.१६
सरकारी सहायता प्राप्त संस्थानों में कार्यरत शिक्षक–	६६.०६ २८८.०२	११.५० ४१.१५	

प्रशिक्षकों की शिक्षण प्रभावशीलता

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट होता है कि कार्य संतुष्टि के कारण शिक्षण प्रभावशीलता पर प्रभाव की स्थिति नगण्य है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि इन संस्थानों में कार्यरत शिक्षक–प्रशिक्षकों की शिक्षण प्रभावशीलता, कार्य संतुष्टि से सामान्य रूप से सह सम्बन्धित नहीं है।

निष्कर्षों की शैक्षिक उपयोगिता– (१) अध्ययन के निष्कर्षों से वर्तमान शिक्षक–प्रशिक्षण कार्यक्रमों में सुधार किया जा सकता है।

(२) शिक्षक–प्रशिक्षकों की स्थिति को और अधिक उन्नत बनाने के लिये नीति–निर्धारकों को सहायता मिलेगी)

(३) शिक्षक–प्रशिक्षकों की शैक्षणिक गुणवत्ता में वृद्धि की जा सकती है।

(४) शिक्षक–प्रशिक्षण संस्थानों की निरंतर बढ़ती संख्या के सापेक्ष उनमें कार्यरत शिक्षक–प्रशिक्षकों की दशा में सुधार लाया जा सकता है।

(५) शिक्षक–प्रशिक्षण संस्थानों को भावी योजनाओं के क्रियान्वयन हेतु मदद मिलेगी।

सन्दर्भ सूची :

१. के०पी० पाण्डेय– यूनीवर्सिटी न्यूज, २/८/२००५, पृ० ०४

२. सिंह, रामपाल– शिक्षा में नवचिंतन

३. सफाया और शुक्ला– उदीयमान भारतीय समाज में शिक्षक

४. शर्मा, आर०ए०– अध्यापक प्रशिक्षण तकनीकी

५. वर्मा प्रीति, श्रीवास्तव, डी०एन०– मनोविज्ञान एवं शिक्षा में सांख्यिकी

***

प्रेमचन्द की सामाजिक-संचेतना

डॉ० विन्ध्यमणि त्रिपाठी*

कबीर के बाद अगर किसी में समाज को पैनीं व गूढ़ दृष्टि से देखने की क्षमता थी तो वह प्रेमचन्द ही थे। उनका सम्पूर्ण कथा साहित्य समाज को देखने व उसकी चेतना को अग्रसर करने का सम्बल है। उनकी लेखनी गाँव से शहर जाकर पुनः गाँव में लौटकर सुख व आनन्द का अनुभव करती है। प्रेमचन्द के लगभग सभी उपन्यास समाज सापेक्ष है। कुछ अपवाद स्वरूप कहानियों को छोड़कर सम्पूर्ण कथा विमर्श समाज को लेकर रचा गया है। किसान, मजदूर, गरीबों की नब्ज पहचानने वाले प्रेमचन्द के हर उपन्यास समाज की समस्या को उघाड़कर उसके परिष्कृत निदान व समाज हेतु खुला दस्तावेज है। प्रेमचन्द की समकालीन सामाजिक परिस्थितियाँ बेहद नाजुक थी। वर्गों में बँटा समाज अपनी ओछी कुरीतियों में कष्ट से दबा हुआ पतन की ओर जा रहा था। कल्पनालोक में अधिक विचरण करते हुये भारतीय हिन्दी की कथाधारा अपने सद्-उद्देश्यों से भटककर अय्यारी व तिलिस्मी रचना की आदी हो रही थी, ऐसे समय में मुशी प्रेमचन्द ने यथार्थ की भूमि पर हिन्दी कथा साहित्य को उतार कर समाज व जीवनोन्मुखी बनाया। वे मानते थे कि बिना समाज साहचर्य के साहित्य का उद्देश्य व परिणति नहीं सफल होती।

अपने उपन्यासों जैसे प्रेमाश्रम में किसान व जमींदार का संघर्ष। रंगभूमि में सामन्तवाद और पूँजीवाद के विरुद्ध आन्दोलन। कर्मभूमि में लगानबन्दी तथा अछूतोद्धार आन्दोलन का चित्रण प्रेमचन्द की सामाजिक चिन्ता का परिचायक है। 'सेवासदन' उपन्यास भारतीय नारी की पराधीनता की गाथा है। 'सुमन' का वेश्यावृत्ति में ढकेला जाना समाज की व्यवस्था का दर्द है। 'सुमन' एक सुन्दर, सुशील व अन्याय न सहने वाली लड़की है। थानेदार उमानाथ की बहन होने के बावजूद उसके विवाह में देर होती है। दहेज की भारी रकम आड़े हाथ आती है, जितना पढ़ा-लिखा लड़का उतनी ही बड़ी माँग। पढ़े-लिखे शिक्षित लोगों की धनलोलुपता का प्रेमचन्द जी ने अच्छा चित्र इस उपन्यास में उपस्थित किया है। सामन्ती कुप्रथाएँ समाज में हावी थी। प्रेमचन्द जी लिखते हैं– ''ज्यों ही वे किसी गाँव में पहुँचते, वहाँ हलचल मच जाती। युवक गठरियों से वह कपड़े निकालते जिन्हें वह बारातों में पहना करते थे। अगूँठियाँ और मोहन माल मँगनी माँगकर पहन लेते। माताएँ अपने बालकों को नहला-धुलाकर आँखों में काजल लगा देती और धुले हुये कपड़े पहनाकर खेलने भेजती। गाँव के नाई और कहार खेतों से बुला लिये जाते, कोई अपना बड़प्पन दिखाने के लिए उनसे पैर दबवाता, कोई धोती छँटवाता। जब तक उमानाथ वहाँ रहते, स्त्रियाँ घरों से न निकलती, कोई अपने हाथ से पानी न भरती, कोई खेत में न जाता।''

इस समय प्रेमचन्द जी हिन्दी कथा साहित्य में एक नये किस्म के यथार्थवाद की नींव डाल रहे थे।

* एल०आई०जी०–५७, कोशलपुरी-१, फैजाबाद (उ०प्र०)

जो वीभत्स व भदेस भी था। थक कर चूर उमानाथ अपनी बहन के लिए दोहाजू वर की तलाश करता है। ऐसा वर जिसकी पहली पत्नी मर चुकी हो और जो बिना दहेज के कन्या का वरण कर ले, सुमन एक अधेड़ व्यक्ति के साथ विवाह बन्धन में बंधकर नारकीय जीवन जीने के लिए मजबूर हो जाती है। 'भोली' वेश्या से प्रभावित होकर सुमन उसके घर आश्रय लेती है क्योंकि सुमन व उसके पति का सम्बन्ध स्वामी व दासी से भी बदतर था। इन स्थितियों को देखकर सुमन जब भोली की ओर अपनी निगाहें करती है तो पाती है कि वही लोग जो घर की स्त्री को पैर की जूती समझते हैं, भोली के तलवे सहलाने में अपने को धन्य मानते हैं। सुमन के कान अपने पति गजाधर की 'चला जा मेरे घर से राँड कोसती है।'' वाणी सुनकर न तो पति के पैरों पर गिर कर गिड़गिड़ाती है और न ही पश्चाताप ही करती है। इस उपन्यास में दहेज, अनमेल विवाह, पति का सन्देह, घर से निकालना व वेश्या के घर आश्रय ढूँढ़ना आदि क्रमशः अन्योन्याश्रित घटनाक्रम है। हर एक का एक दूसरे जुड़ाव है। आखिरकार 'भोली' 'सुमन' से अपने वेश्याकर्म का सही राज बताती है– ''मेरे माँ–बाप ने भी मुझे एक बूढ़े मियाँ के गले में बाँध दिया था। उसके यहाँ दौलत थी और सब तरह का आराम, लेकिन उसकी सूरत से मुझे नफरत भी। मैंने किसी तरह छः महीने काटे आखिर निकल खड़ी हुई।'' वेश्यावृत्ति के प्रेरक तत्वों को प्रेमचन्द जी ने इस उपन्यास में चित्रित कर उन्हें कटघरे में ला खड़ा किया है। वे मानते थे कि समाज और उसकी सम्पत्ति के रक्षक सदाचार की आड़ में वेश्यावृत्ति को बढ़ाया ही नहीं अपितु वेश्याओं को जन्म भी देते हैं।

'प्रेमाश्रम' में प्रेमचन्द ने समाज के अन्याय रूपी वट वृक्ष को खोदकर दिखा दिया है कि अन्याय अत्याचार के फल किस डाली में किस तरह लगते हैं। प्रेमाश्रम की रचना से पहले उन्होंने जमींदार व जमींदारी प्रथा के साथ–साथ किसानों मजदूरों, दलितों की पीड़ा का अच्छा अध्ययन किया था। किसानों के दस्तावेज स्वरूप इस उपन्यास में नायक व नायिका के स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित न होने के बावजूद प्रेमाश्रम उत्कृष्ट उपन्यास है। लखनपुर के गाँव वाले अपने जमींदार जटाशंकर से ज्यादा उसके बेटे ज्ञानशंकर के समय में कष्ट पाते हैं। ज्ञानशंकर आधुनिक जमींदार है। जटाशंकर जहाँ अपनी इज्जत का काफी ख्याल रखता था किन्तु उसके पुत्र ज्ञानशंकर के समय में गाँव वालों पर अन्याय व अत्याचार बढ़ जाते हैं। लखनपुर में मनोहर व बलराज पिता पुत्र हैं काफी जागरूक व प्रगतिशील हैं। 'गौस खाँ' द्वारा बेदखली देने पर मनोहर कहता है– ''बेदखली की धमकी दूसरों को दें। यहाँ हमारे खेतों के मेड़ पर कोई आया तो उसके बाल बच्चे उसके नाम को रोयेंगे।''

बलराज पढ़ा–लिखा एवं अखबारी दुनिया का आदमी है उसे मालूम है कि 'रूस' में काश्तकारों व किसानों का राज है, वह जो चाहते हैं करते हैं एक देश 'बुलगारी' है, जहाँ किसानों मजदूरों की पंचायत राज करती है। गाँव में डिप्टी के दौरे से कइयों के ऊपर गाज गिरती है, एक किसान की सारी लड़की जाड़े के ठिठुरते माहौल में गायब हो जाती है। 'कादिर मियाँ' का बकरा डिप्टी के स्वागत में कट जाता है। दुकानों का लुट जाना आम बात हो जाती है। इन सब को सहते हुए भी गाँव वालों में एकता की बुलन्दी से जमींदार को आसामियों पर लगान व इजाफा करने के निर्णय पर झुकना पड़ता है।

प्रेमचन्द के पात्र समाज की कठिनाइयों एवं संघर्ष को झेलते हुए गिरते पड़ते हैं लथपथ हो जाते हैं, हारते हैं, जीतते भी हैं और उठकर प्रगति की राह पकड़ लेते हैं चाहे आगे वे फिर सत्ता द्वारा कुचल ही क्यों न दिये जाय।

'निर्मला' उपन्यास में कई दम्पत्तियों के चित्रण के बावजूद मूल कथा निर्मला पर ही केन्द्रित है।

निर्मला की दुर्दशा व नारकीय जीवन व्यतीत करते हुए मृत्यु का वरण करना समाज में विष की तरह फैले दहेज प्रथा व बेमेल विवाह की परिणति है जिससे निर्मला जैसी कन्याओं का जीवन प्रातःकाल में ही वैधव्य जैसा दिखने लगता है।

'गबन' का कथानक स्त्रियों की आभूषण प्रियता को समस्या के रूप में रखकर स्वाधीनता आन्दोलन की ओर उन्मुख होकर राष्ट्रीय चेतना से सम्पृक्त हो जाता है। सेवासदन, प्रेमाश्रम, गबन, रंगभूमि, कर्मभूमि आदि उपन्यासों में प्रेमचन्द जी स्त्री की दशा व दिशा पर अपनी तीव्र दृष्टि रेखांकित करते हुए चलते हैं वे इस बात को अच्छी तरह से समझ गये थे कि हम अपने ही बनाये फन्दे में फँसते जा रहे हैं। नारी की स्वतंत्रता के प्रखर समर्थक थे प्रेमचन्द जी। उनकी यह विचारधारा परिवार में विघटन का कारण भी बनती है, जो कई उपन्यासों में स्पष्ट रूप से चित्रित है। 'रंगभूमि' का पात्र सूरदास उपन्यास में संघर्ष का ध्वजवाहक है। परोपकारी व सहृदय है। भैरों अपनी पत्नी 'सुभागी' को मारकर घर से निकाल देता है परन्तु सूरदास मानवता वश उसे अपने घर में आश्रय देता है। लोग सूरदास को बदनाम करते हैं और कुछ तो उसे जमीन बेचने की सलाह देते हैं, पर सूरदास सभी लालच को दर किनारे कर अपनी जमीन बेचने से साफ इन्कार कर देता है। उसकी जमींन पर अंग्रेजी हुकूमत का 'जन सेवक' कारखाना स्थापित करना चाहता है। सूरदास मरते दम तक अपने गाँव की जमीन के लिए लड़ता रहता है। 'जान सेवक' लालच देते हुए कहता है– ''यात्रियों के लिए सड़क के किनारे खपरैल के मकान बनवा दिये जायेंगे'' अहीर से कहता है– ''हाते में गाय, बैल, भैस चराने की इजाजत दे दी जायेगी'' पान वाले से कहता है– ''मिल खुलने पर तुम्हारी आमदानी चौगुनी हो जाएगी। लड़कों के लिए मदरसे की बात करता है। सूरदास अकेला पड़ जाता है। वह जानसेवक के इस कार्य का भलीभाँति गर्भित आशय जानता है कि– कारखाना खुलने से गाँव में दुराचार फैलेगा। कुँवर भरतसिंह कहता है– ''तम्बाकू की खेती होगी तो अनाज महँगा होगा।'' सूरदास अपने विचार पर अडिग रहता है फलतः दमन चक्र चल पड़ा, मजदूरों के घर की व्यवस्था के लिए गाँव के घरों से सामान निकाल कर बहाया जाने लगा। प्रेमचन्द लिखते हैं– ''दिन दहाड़े डाका पड़ रहा हो'' सूरदास अपनी झोपड़ी नहीं छोड़ता जनता इकट्ठी हो जाती है अन्ततः गोली चलने से कई आदमी मर जाते हैं। सूरदास समाज से कटकर उसके विकृत रूप को देखने की सामर्थ्य नहीं रखता, इसीलिए वह कारखाना खोलने के लिए जमींन देने से साफ इन्कार करता है। सूरदास समाज का मसीहा है उसमें क्रान्ति का बिगुल बजाने की क्षमता है। सूरदास की जीत तो नहीं होती पर उसकी दृष्टि और प्रेमचन्द के दृष्टिकोण में कोई अन्तर नहीं है।

सूरदास नहीं रहा पर उसकी आवाज बाद के लिए समाज में प्रेरणा बन गई– ''हम हारे तो क्या, मैदान से भागे तो नहीं, रोए तो नहीं धांधली तो नहीं की। फिर खेलेंगे, जरा दम ले लेने दो, हार–हार कर तुम्हीं से खेलना सीखेंगे और एक न एक दिन हमारी जीत होगी अवश्य होगी।'' कायस्थ परिवार में जन्में प्रेमचन्द जी समाज को प्रगतिशीलता के पथ पर अग्रसर करने में वर्णव्यवस्था को सबसे बड़ा बाधक मानते थे। यही कारण है कि उनके अन्तिम उपन्यास 'गोदान' में सभी जातियों व वर्गों का जमकर विरोध हुआ है। गोदान भारतीय किसान की त्रासदी व दलित चिंतन का खुला दस्तावेज है जिसमें समाज के हर पक्ष–जमींदार, करिंदा, किसान, पटवारी, पण्डित आदि सबका यथार्थ चित्रण मिलता है।

'कफन' कहानी मूल रूप से व्यवस्था के दर्द का कटु यथार्थ है। प्रेमचन्द इस कहानी के द्वारा समाज में व्याप्त सवर्णों द्वारा उस व्यवस्था की खिल्ली उड़ाते हैं जिसके कारण निम्न वर्ग के लोगों में

संवेदन शून्यता इतने चरम उत्कर्ष पर पहुँच जाती है कि वे घीसू व माधव जैसी हरकते कर बैठते हैं। 'सद्गति' कहानी में एक अछूत की ब्राह्मण-भक्ति व एक ब्रह्माण की अस्पृश्यतावादी दृष्टिकोण को उजागर कर समाज की व्यवस्था की भर्त्सना करने में प्रेमचन्द ने काफी सफलता हासिल की है। 'ठाकुर का कुँआ' कहानी में जोखू की पत्नी 'गंगी' पानी भरने से वंचित रह जाती है, एक जाति विशेष का होने के नाते। 'गंगी' का कोई खास विरोध नहीं देखने को मिलता, परन्तु अपनी इस कसक को प्रेमचन्द 'गोदान' में ज्यो का त्यों 'धनिया' से कहलवा लेते हैं– 'किसी ने उसे पानी भरने से रोका तो उसका और अपना खून एक कर देगी।'' 'मन्दिर' कहानी की धर्म भीरूता में 'सुखिया' मन्दिर में जाने के प्रयास में अपने बच्चे को खो देती है। मार खाकर भी वह भगवान के सहारे न्याय की प्रतीक्षा में रहती है। उसका हृदयिक अव्यक्त रोष 'कर्मभूमि' उपन्यास में क्रान्ति का रूप ले लेता है, जिसका नेतृत्व शान्ति कुमार व सुखदा जैसे सवर्णपात्र करते हैं। अछूतों को मन्दिर में प्रवेश मिल जाता है। यह उस समय की बहुत बड़ी घटना थी। 'गोदान' में विधवा विवाह का समर्थन भी एक नई बात थी। प्रेमचन्द के उपन्यास गोदान का तात्कालिक परिस्थितियों में व्यापक विरोध हुआ था। उन्होंने समाज के कमजोर पक्ष की नब्ज पकड़कर उसे खूब अपमानित किया था। प्रेमचन्द वर्ग-विहीन समाज के समर्थ थे। प्रेमचन्द यथार्थवादी रचनाकार हैं, आदर्शवाद उनकी शुरू की कहानियों की कमजोरी जरूर थी। जिसके चक्कर में कथानक अन्त तक भटक जाते हैं। पर गोदान तक प्रेमचन्द इससे मुक्त हो जाते हैं आदर्शवाद को पीछे छोड़ यथार्थ पर सम्पूर्ण जोर देते हैं। वस्तुतः प्रेमचन्द की लेखनी भारतीय समाज को समझ कर एवं उसे चेतना के पथ पर अग्रसर करने की संजीवनी है। उन्होंने हिन्दी कथा साहित्य में नये नायकों को तराशकर समाज की कोरी विद्रूताओं, अस्पृश्यता, शोषण के विरुद्ध खड़ाकर सामाजिक चेतना को नया स्वरूप प्रदान किया है।

सन्दर्भ सूची :

१. प्रेमचन्द- प्रेमाश्रम
२. प्रेमचन्द-कर्मभूमि
३. प्रेमचन्द-रंगभूमि
४. प्रेमचन्द-कर्मभूमि
५. प्रेमचन्द-गोदान
६. प्रेमचन्द-निर्मला
७. प्रेमचन्द-मानसरोवर

***

भारत में शिक्षक-शिक्षा के इतिहास की रूपरेखा

आलोक कृष्ण द्विवेद्वी*

सर्वप्रथम विश्व में शिक्षा सम्बन्धी विचार का भारत की धरती पर अनुसंधान हुआ। वेदों की व्याख्या के लिए वेदांगों की रचना की गयी– शिक्षा, कल्प, व्याकरण, ज्योतिष, निरुक्त और छन्द। अर्थात् वेद के अध्ययन हेतु अध्यापक और अध्ययन की पद्धति दोनों की आवश्यकता पड़ी। अतः 'शिक्षा' नामक वेद का अंग सहायक हुआ। वेद अर्थात् ज्ञान की शिक्षा कैसे और किसके द्वारा दी जाय तो अध्यापक द्वारा विशिष्ट पद्धति से ज्ञान दिया जाय। सर्वप्रथम शिक्षण पद्धति का प्रयोग माण्डूक्योपनिषद् की शिक्षा बल्ली नामक अध्याय में विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है। यद्यपि इस युग में समाज के चतुर्वर्णों में शूद्र के साथ नारी को शिक्षा नहीं दी जाती थी विशेषतः वेद विद्या का। इस वैदिक युग में ब्राह्मण, क्षत्रिय साथ-साथ शिक्षा ग्रहण कर सकते थे जिसे गुरुकुल परम्परा कहा जाता था। वर्तमान छात्रावास का संरक्षक वैदिक युग में माता-पिता और अभिभावक रूप में एक ही दायित्व गुरु के ऊपर होता था जिसके द्वारा आधुनिक पुस्तकीय ज्ञान देने की परम्परा थी, अपितु उन्हें गुरु के साथ रहते हुए घर में परिवार के एक सदस्य के रूप में हमारा आचरण एवं व्यवहार क्या होना चाहिए, समाज और देश के साथ हमारा कर्त्तव्य बोध क्या है? आदि अनेक प्रासंगिक जीवनमूल्यों, आचार-विचार, संस्कार को भी सिखाया जाता था। अतः हम कह सकते हैं कि जीवन में पूर्ण मानव बनने की दिशा में गुरुकुल शिक्षा पद्धति अधिक सशक्त थी। इस शिक्षा से प्रत्येक शिक्षार्थी एक शिक्षक बनने में समर्थ होता था। निःसंदेह अध्यापक अर्थात् गुरु अपने शिष्य को सदैव शिक्षक के रूप में खड़ा करने हेतु समाज चेतना विकसित करता था।

वैदिक युग से लेकर उपनिषद्, स्मृति, पुराण, रामायण तथा महाभारत काल तक प्रायः अध्यापन शिक्षण की एक परम्परा थी जिस संस्था का नाम गुरूकुल शिक्षा पद्धति है। ऋग्वैदिक शिक्षण पद्धति की ओर ऋग्वेद में एक संकेत मिलता है कि "विद्या प्रचार राष्ट्र को स्वाधीन बना देता है, वह पराधीन नहीं होता है, उसमें किसी प्रकार की क्षीणता नहीं आ सकती। सब प्रकार के ज्ञान और कर्म राष्ट्र में सम्पन्न होने लगते हैं।"[१] इतना ही ऋग्वेद में अध्यापक के गुणों की चर्चा इस प्रकार की गयी है कि "जो अत्यन्त विद्वान, अत्यन्त शिल्पी, सत्य आचरण करने वाले, ब्रह्मतेज युक्त हम लोगों को विद्या और सुशिक्षा से उन्नति देते हैं। उनको हम संरक्षण देकर सदा सेवें। शिक्षक का कर्त्तव्य है कि वह कुपात्र को शिक्षा न दें, अपितु सत्य का वर्ताव करने वालों को सत्य शिक्षा का उपदेश करें।"[२] इस ऋग्वेद में शिक्षक-शिक्षण की प्रक्रिया को एक उदाहरण द्वारा भी समझाया गया है कि जिस प्रकार गाय रसयुक्त गुणकारी दूध प्रदान

* प्रवक्ता (शिक्षाशास्त्र), केशव प्रसाद मिश्र महाविद्यालय, सन्त रविदास नगर, औराई, भदोही

करती है, उसी प्रकार अध्यापक निरन्तर अध्ययनशील रहता हुआ तथा न सोता हुआ शिक्षण प्रक्रिया को पूर्ण करें और ज्ञान प्रदान करें–

''भरद्वेनूरसवच्छिश्रिये पयो नुश्रुवाणे अध्येति न स्वपन् ।''[३]

भारत में युग परिवर्तन के साथ–साथ शिक्षा में परिवर्तन होता गया। शिक्षा शास्त्रियों के अपने अलग–अलग तर्क एवं सिद्धान्त शिक्षा शास्त्रों में विन्यस्त मिलते हैं। कतिपय मतभेदों का समाहार करके जिन कसौटियों को शिक्षक–शिक्षा अथवा प्रशिक्षण की चर्चा की जाय तो वह प्राचीन काल से अधुनापर्यन्त चार स्वरूप दृष्टिगोचर होते हैं। डॉ. पी.डी. पाठक के अनुसार– स्वतन्त्र भारत में जिसे शिक्षक–शिक्षा की संज्ञा दी गई है, उसे उससे पूर्व शिक्षक–प्रशिक्षण कहा जाता था। शिक्षक–प्रशिक्षण का उद्भव प्राचीन भारत में देखा जाता है। उस समय से आजतक इसका विकास चार अस्पष्ट चरणों में हुआ था–

(१) छात्राध्यापक–पद्धति,

(२) शिक्षक– पद्धति,

(३) शिक्षक–प्रशिक्षण,

(४) शिक्षक–शिक्षा।''[४]

शिक्षक–प्रशिक्षण की आधुनिक प्रक्रिया पर अपनी दृष्टि लगाते ही प्राचीन पद्धति की ओर भी सोचने लगते हैं। परन्तु प्राचीनकाल में शिक्षक–प्रशिक्षण के सैद्धान्तिक ज्ञान का कोई स्थान नहीं था। यद्यपि इसके विपरीत उसमें व्यावहारिक शिक्षा की प्रधानता थी और जिसे? करके सीखना' जैसे विधि का अधिक प्रचलन था। यदि हम इसे शिक्षक–प्रशिक्षण कह सके तो शिक्षाशास्त्र में अध्यापन पद्धति का प्रथम सोपान मान सकते हैं।

शिक्षा के क्षेत्र में नव जागरण मध्यकाल के उपरान्त १८वीं शताब्दी में नई चेतना आयी जब भारत में विदेशी सत्ता का बागडोर बढ़ने लगा। यद्यपि अंग्रेजी शासन में भी ईसाई धर्म को बढ़ावा देने के लिए ही भारत में शिक्षा एवं शिक्षण प्रशिक्षण को महत्व दिया गया। क्योंकि अंग्रेजी एवं ईसाइत का विस्तार अधिक शिक्षकों को तैयार करके ईसाई धर्म का प्रचार कराना उद्देश्य था ही, साथ में अंग्रेजी शासन को मजबूत बनाने के लिए विदेशी मानसिकता के भारतीय लोगों को भी तैयार करना था। इस दृष्टि से भारत में व्यवस्थित शिक्षण प्रशिक्षण की प्रक्रिया की शुरूआत डेन मिशनरियों के द्वारा सर्वप्रथम मद्रास में किया गया। यह प्रथम प्रयोग जब सफल सिद्ध होने लगा तो इन्होंने शिक्षा परिषदों के माध्यम से प्राथमिक शिक्षकों को प्रशिक्षित करने के उद्देश्य से मद्रास के अतिरिक्त अन्य दोनों बहुसंख्यक महानगरों–मुम्बई, कोलकाता को भी चयनित किया गया। यद्यपि इस शिक्षक–प्रशिक्षण व्यवस्था को छात्राध्यापक पद्धति की सरणि में गिना जा सकता है।

शिक्षा एवं शिक्षण दोनों ही नियोजित कार्यक्रम होने के कारण अध्यापक–शिक्षा और भी अधिक सुनियोजन निर्भर हो जाती है जिसका उद्देश्य योग्य, सफल प्रभावकारी और सुव्यवस्थित अध्यापक को तैयार करना है। अध्यापक शिक्षा के क्षेत्र में सम्मिलित होने वाले छात्रों को आज प्राय: छात्राध्यापक या छात्राध्यापिका के रूप में जाना जाता है जबकि पहले उन्हें प्रशिक्षु अध्यापक–अध्यापिका की संज्ञा दी जाती थी। उन्हें सैद्धान्तिक पाठ्यक्रम के अध्ययन के साथ ही व्यावहारिक क्रियाकलाप के अन्तर्गत शिक्षण अभ्यास कार्यक्रम में भी सम्मिलित होने की अनिवार्यता होती है।

आधुनिक शिक्षण प्रणाली के प्रारम्भ में प्राय: गैर-सरकारी संगठनों द्वारा शिक्षक-प्रशिक्षण का कार्य किया गया परन्तु सरकारी तौर पर सर्वप्रथम मुम्बई में १८१५ ई. में 'देशी शिक्षा परिषद' का गठन करके २५ अध्यापकों को प्रशिक्षित करते हुए प्राथमिक विद्यालयों के लिए शिक्षक तैयार किया गया। इसी प्रकार चार वर्ष पीछे कोलकाता में 'कलकत्ता विद्यालय परिषद्' के माध्यम से अध्यापक प्रशिक्षण का कार्य प्रारम्भ हुआ।

शिक्षक-प्रशिक्षण की दिशा में अप्रतिम योगदान देने वाले सर टॉमस मुनरो का नाम विशेष उल्लेखनीय है, जिन्होंने सेन्ट्रल स्कूल के माध्यम से प्रशिक्षण युग की क्रान्ति लायी। लगभग पच्चीस वर्षों बाद १८५४ में 'वुड आदेशपत्र' के द्वारा भारत के प्रत्येक प्रान्तों के शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिए ट्रेनिंग स्कूलों और कक्षाओं का शीघ्र शिलान्यास करके प्रशिक्षण को गति प्रदान किया गया। यद्यपि अंग्रेजी शासनकाल में १९वीं शताब्दी के समापन काल में शताधिक प्रशिक्षण केन्द्रों की स्थापना की जा चुकी थी। इन शिक्षण केन्द्रों द्वारा पूर्ववर्ती छात्राध्यापक पद्धति या कक्षानायकीय पद्धति का परित्याग करते हुए धीरे-धीरे 'शिष्यता-पद्धति' को विकसित किया जाने लगा। यह प्रणाली अधिक कारगर सिद्ध नहीं हुई परन्तु इसके द्वारा जिला ट्रेनिंग कालेजों की स्थापना की प्रेरणा जरूर दी। ब्रिटिश कालीन शिक्षक प्रशिक्षण की वस्तु-स्थिति को लिखते हुए 'भारतीय शिक्षा और उसकी समस्याएँ' नामक पुस्तक में डॉ. पी.डी. पाठक ने कहा है- "ब्रिटिशकाल में १८८२ तक शिक्षकों को किसी प्रकार का कोई व्यावहारिक ज्ञान नहीं होता था शिक्षक-प्रशिक्षण की वास्तविक आवश्यकता का अनुभव हण्टर कमीशन की सिफारिशों के फलस्वरूप किया गया। उसके उपरान्त १९०४ और १९१३ के सरकारी प्रस्तावों, सेंडलर कमीशन, हर्टाग समिति आदि ने शिक्षक-प्रशिक्षण के विषय में नवीन एवं उपयोगी सुझाव प्रस्तुत किये, जिनके फलस्वरूप शिक्षक प्रशिक्षण का उत्तरोत्तर विकास होता चला गया।"[५]

भारत में अध्यापक-शिक्षक की महत्ता प्राचीन काल से सर्वोपरि रहा है। समाज में माता-पिता की भाँति इन्हें भी सदैव सम्मान मिला। मनुस्मृति में इनके महत्व को प्रतिपादित करते हुए प्रथम संहिताकार स्मृतिकार ने लिखा है-

> उपाध्यायानां दशाचार्य: आचार्याणां शतं पिता।
> सहस्रं तु पितृन्माता गौरवेणातिरिच्यते।।[६]

शिक्षा के क्षेत्र में शिक्षाशास्त्रियों द्वारा सतत चिन्तन की प्रक्रिया गतिशील रही। किसी समाज में शिक्षकों के स्तर से उसकी सांस्कृतिक तथा सामाजिक दृष्टि की पहचान की जाती है। कहा गया है कि कोई भी राष्ट्र अपने अध्यापकों के स्तर से ऊपर नहीं उठ सकता। सरकार और समाज को ऐसी स्थिति लाने की आवश्यकता है जो वर्तमान विसंगतियों को दूर करके शिक्षक शिक्षा की पद्धति में नवीनता-गुणवत्ता का विकास कर सके। इस संदर्भ में डॉ. पंकज तिवारी ने लिखा है- "हमारी शिक्षा का स्वरूप ऐसा होना चाहिए जिसमें शैक्षणिक सोच सकारात्मक एवं आध्यात्मिक तत्वों पर आधारित हो तथा नैतिकता एवं चरित्र-निर्माण से जुड़े पहलू को अधिक महत्व प्रदान किया जाये।"[७]

नि:संदेह आज के परिवेश में हमें शिक्षक-शिक्षण, प्रशिक्षण की व्यवस्था एवं शिक्षा में गुणवत्ता एवं विशेषीकरण लाने की आवश्यकता है जिसमें प्राचीन भारतीय अवधारणा के साथ आधुनिकता एवं वैज्ञानिकता का आधार लिया जाये, उससे समाज, राष्ट्र के साथ जीवन एवं व्यक्ति में सफलता सिद्ध होगी।

शिक्षक-शिक्षा के स्तर को बनाए रखने के लिए उच्च स्तरीय अभिकरणों की भूमिका मुख्य मानी गई है। भारत में अनेक राष्ट्रीय स्तर के अभिकरण क्रियाशील हैं जो शिक्षक-शिक्षा के स्तर को ऊँचा उठाने में लगे हुए हैं। जैसे-१. विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (यू.जी.सी.), २. राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् (एन.सी.ई.आर.टी.), ३.राष्ट्रीय शैक्षिक नियोजन एवं प्रशासन संस्थान (एन.आई.ई.पी.ए.), ४. भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद् संस्थान (आई.सी.एस.एस.आर.), ५. शिक्षा में विकसित अध्ययन केन्द्र (सी.ए.एस.ई.), ६. राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा परिषद (एन.सी.टी.ई.)।

इसके साथ ही इन राष्ट्रीय अभिकरणों के अतिरिक्त अन्य राज्य स्तरीय अभिकरण भी शिक्षक-शिक्षा के क्षेत्र में अपना योगदान करते हैं। जैसे-१. राज्य अध्यापक शिक्षा बोर्ड (एस.बी.टी.ई.), २. विश्वविद्यालय शिक्षा विभाग तथा शिक्षा संकाय (यू.डी.ई./यू.एफ.ई.), ३. निरन्तर अध्यापक शिक्षा केन्द्र (सी.टी.ई.सी.), ४. दूरस्थ या पत्राचार अध्यापक शिक्षा (डी.टी.ई. या सी.टी.ई.), ५. ग्रीष्मकालीन शिक्षा संस्थान (एस.आई.ई.), ६. अध्यापक शिक्षा महाविद्यालय या संस्थान (सी.टी.ई. या आई.टी.ई.)।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत में शिक्षक-शिक्षा के क्षेत्र में अनेक अभिकरण कार्यरत हैं जिनका कार्य एवं उद्देश्य शिक्षक-शिक्षा के स्तर को उन्नत बनाना है। वस्तुतः राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा परिषद् के बनने और उसे वैधानिकता प्राप्त होने के बाद शिक्षक-शिक्षा के क्षेत्र में स्तरोन्नयन और गुणवत्ता नियंत्रण के क्षेत्र में इस परिषद् की भूमिका सर्वाधिक महत्वपूर्ण हो गई है। इसके साथ ही राज्यस्तरीय अभिकरण भी शिक्षा के स्तर को सुधारने में लगे हुए हैं।

सन्दर्भ सूची :

१. ऋग्वेद- प्रथम मण्डल, सूक्त १२३, मंत्र १३

२. वही, सूक्त, १४७

३. ऋग्वेद, पंचम मण्डल, सूक्त ४४, मंत्र संख्या १३

४. डॉ. पी.डी. पाठक- भारतीय शिक्षा और उसकी समस्याएँ, पृ. ४५३

५. वही. ४५८

६. मनुस्मृति, द्वितीय अध्याय

७. भारतीय संविधान में शिक्षा का अधिकार लेख- समानुभूति-शोध पत्रिका, प्रवेशांक २०११, संपादक- डॉ० राजकुमार उपाध्याय 'मणि' पृ० १३६

***

भारतीय दर्शन में मायावाद

चन्दा कुमारी*

माया भारतीय दर्शन का महत्वपूर्ण तत्त्व है। माया शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम ऋग्वेद तथा उपनिषदों में किया गया है। ऋग्वेद के भाष्यकार सायण ने 'माया' शब्द का अर्थ 'प्रज्ञा'[१] किया है। बृहदारण्यकोपनिषद् तथा प्रश्नोपनिषद् में 'माया' शब्द का एक बार प्रयोग मिलता है– इन्द्रो मायाभि : पुरूरूप ईयते।[२]

तेषामसो विरजो ब्रह्मलोके न येषु जिह्ममनृतं न माया।[३] यास्क ने भी 'माया' शब्द का अर्थ 'प्रज्ञा' किया है।[४] श्वेताश्वतरोपनिषद् में माया को प्रकृति एवं मायावी महेश्वर को बतलाया गया है– मायान्तु प्रकृति विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम्।[५]

श्रीमद्भगवद्गीता में माया शब्द का प्रयोग अनेक स्थलों पर हुआ है परन्तु प्रत्येक स्थल पर माया का अर्थ भिन्न है। कभी ईश्वर की शक्ति के रूप में और कहीं उसे त्रिगुणात्मिका प्रकृति के रूप में कहा गया है–

देवी ह्येषा गुणमयी........मायामेतां तरन्तिते।[६]

ब्रह्मसूत्र में 'माया' शब्द का प्रयोग असत् अर्थ में हुआ है। वह केवल आभासमात्र है पारमार्थिक वस्तु नहीं– 'मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्।'[७]

योगवासिष्ठ में माया अथवा अविद्या के स्वरूप का प्रचुर वर्णन मिलता है। इस ग्रन्थ में जगत् को स्वाप्निक, काल्पनिक तथा मृग-मरीचिका के समान कहकर इसकी सत्ता का प्रत्याख्यान किया गया है। जगत् नामक काल्पनिक नगरी को मायाकाश में प्रकाशमान निरावृत एवं असीम भ्रान्ति के रूप में चित्रित किया गया है।[८] अविद्या को संसार की बीजरूपा एवं कुम्भकार की चक्रिका के समान घट-शरावादि को उत्पन्न करने वाली कृत्रिम वेशवती, चित्त को मोह में डालने वाली वासनारूपा माना गया है।[९]

अद्वैत- वेदान्त के क्षेत्र में आचार्य गौड़पाद ने सर्वप्रथम माया शब्द का प्रयोग अविद्या या अज्ञान अर्थ में किया है। वे माया या अज्ञान को अनादि कहते हैं–

अनादिमायया सुप्तो जीवन यदा प्रबुद्धयते।
अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुद्धयते तदा।।[१०]

इसके अनुसार- दृश्यमान जगत् स्वप्न और गन्धर्वनगर के समान मिथ्या है। केवल माया के कारण ही भेद दृष्टिगोचर होता है परमार्थतः तो अद्वैत ब्रह्म ही सत्य है।[११] जीवों की उत्पत्ति को मायाजन्य बताते हुए गौड़पादाचार्य कहते हैं कि धर्म (जीव) यद्यपि उत्पन्न होते हैं– कहे जाते हैं तथापि तत्त्वतः उनकी उत्पत्ति नहीं होती। उनका जन्म माया के समान ही है एवं उस माया की वास्तविक सत्ता है ही नहीं। माया बीज से मायामय अंकुरों के समान ही जीव की उत्पत्ति समझनी चाहिए।[१२]

---

* (एम०फिल०) संस्कृत अध्ययन केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नईदिल्ली

आचार्य गौड़पाद के बाद शंकर ने माया के सिद्धांत को विस्तृत रूप दिया। 'माया' शब्द का प्रयोग शंकराचार्य के उपनिषद् भाष्यों में लगभग २५ बार हुआ है। माण्डूक्यकारिका के भाष्य में माया पद का प्रयोग लगभग ६० बार किया गया है तथा श्रीमद्भगवद्गीता भाष्य में लगभग ४० बार किया है तथा ब्रह्मसूत्र भाष्य में ३० बार माया शब्द का प्रयोग हुआ है।[१३] उन्होंने माया शब्द का प्रयोग इन्द्रजाल के अर्थ में किया है। उन्होंने परमेश्वर को मायावी तथा जगत् को माया कहा है।[१४] माया के कारण ही निर्गुण निष्क्रिय ब्रह्म में कर्तृत्व सम्भव है, इसके बिना वह जगत् का स्रष्टा कैसे हो सकता है–

''न हि तया विना परमेश्वरस्य स्रष्टुत्वं सिध्यति शक्तिरहितस्य तस्य प्रवृत्त्यनुपत्तेः।[१५]

शंकर की माया सांख्य की प्रकृति के समान स्वतंत्र नहीं अपितु ईश्वराश्रित है–

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।[१६]

इस स्मृति वाक्य के अनुसार ईश्वर की अध्यक्षता में ही वह समस्त चराचर संसार का सृजन करती है। आचार्य शंकर के अनुसार– माया समष्टिगत शुद्धसत्त्व प्रधान है और अविद्या व्यष्टिगत उपाधि है जो मलिनसत्त्व प्रधान है।[१७] माया एक विलक्षण शक्ति है जिसके अस्तित्व पर ही 'ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या'[१८] जैसे दो विरोधी वाक्यों में एकता प्रतीत होती है, क्योंकि सत्य वस्तु होने के कारण ब्रह्म का कभी बाध नहीं होना चाहिए किन्तु इसके विपरीत स्थूल रूप से जगत् प्रतिक्षण दृष्टिगोचर होता है। इस विपरीत प्रतीति के प्रतिकार स्वरूप 'माया' की कल्पना की गई है। इसी प्रकार 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति'[१९] में कार्यकारण सम्बन्ध के आधार पर द्वैत प्रतीति का कोई प्रतिकार नहीं, इसलिए माया की कल्पना अनिवार्य हो गई।

माया की शक्ति का वर्णन करते हुए आचार्य शंकर विवेकचूडामणि में कहते हैं कि[२०] जो अव्यक्त नामवाली त्रिगुणात्मिका अनादि अविद्या परमेश्वर की पराशक्ति है, वही माया है जिससे सारा संसार उत्पन्न हुआ है। कठोपनिषद् के भाष्य में अविद्या की दुर्गमता, विचित्रता का व्याख्यान करते हुए कहा गया है कि यह माया अति ही गम्भीर दुःखगाह्या एवं विचित्र है–

''अहो अतिगम्भीरा दुखगाह्या विचित्रा माया चेयं यदयं सर्वो जन्तुः परमार्थतः परमार्थसतत्त्वोऽपि..............वभ्रमीति।''[२१]

शंकराचार्य जागतिक प्रपंच का मिथ्यात्व सिद्ध करने के लिए भी माया का आश्रयण करते हैं। उनके अनुसार– मिथ्या का तात्पर्यार्थ सर्वथा खपुष्पादि के समान असत् नहीं, अपितु सदसत् से भिन्न अनिर्वचनीय है। जिस प्रकार रज्जु में सर्प का भ्रम न तो असत् ही है क्योंकि बाध के पूर्व उसकी प्रतीति होती है और न सत् ही क्योंकि रज्जु ज्ञान के बाद उसका बाध होता है उसी प्रकार ब्रह्म की अपरोक्षानुभूति के बाद जगत् की सत्ता का बाध हो जाता है एवं अपरोक्षानुभूति से पूर्व उसकी व्यावहारिक सत्ता रहती है। इसलिए जागतिक व्यवहार को सत्यानृत का मिथुन रूप एवं नैसर्गिक माना गया है।[२२]

जगत् के इस अनिवर्चनीयत्व या मिथ्यात्व का कारण उसकी मायामूलकता है। बुद्धि आदि उपाधि के साथ आत्मा का सम्बन्ध मिथ्याज्ञान पुरःसर ही होता है। अनुमान प्रमाण के द्वारा भी शंकराचार्य ने माण्डूक्यकारिका के भाष्य में जगत् की मायामूलकता सिद्ध की है।[२३]

माया की विशेषता

शंकर ने माया की भावरूपता त्रिगुणात्मकता, ज्ञानविरोधिता अनिवर्चनीयता, शक्तिमत्ता, व्यावहारिकता एवं अध्यस्तता को प्रतिपादित किया है।[२४]

माया की दो शक्तियाँ होती हैं– आवरण शक्ति तथा विक्षेप शक्ति। इन दो शक्तियों से उपहित होकर

ब्रह्म जगत् की रचना करता है।[२५] शंकर की दृष्टि में माया, अविद्या तथा अज्ञान समानार्थक शब्द हैं। अतः माया ईश्वर की शक्ति है। यह माया ही है जो ब्रह्म के स्वरूप पर पर्दा डालकर उसे विश्व के रूप में प्रस्तुत करती है। यह शक्ति ब्रह्म से अलग नहीं की जा सकती है। जिस प्रकार लौ प्रकाश से पृथक् नहीं रह सकती है उसी तरह माया भी ब्रह्म से पृथक् नहीं रह सकती है। माया ब्रह्मरूपी जादूगर का जादू है।[२६] माया के कारण ही जीव तथा ब्रह्म के बीच बहुत बड़ा अन्तर पैदा हो जाता है और शंकर की दृष्टि में ब्रह्म ही माया का निवास स्थान है। यह माया जीव को प्रभावित करती है, ब्रह्म को नहीं। ब्रह्म माया से प्रभावित नहीं होता।[२७]

परमेश्वर को शंकराचार्य परमार्थतः माया से विविक्त निष्क्रिय एवं निराकार मानते हैं। जब 'एकोऽहं बहुस्याम्' के अनुसार उसमें सृष्टि करने की सिसृक्षा होती है तो वह मायोपहित हो जाता है। मायारूप बीजशक्ति से युक्त होने पर भी मायाजाल जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति रूप तीनों अवस्थाओं में अवभासित होने वाला परमेश्वर उनसे वैसे ही असंस्पृष्ट रहता है जैसे कि स्वप्नद्रष्टा स्वप्नदर्शन रूप माया से असंश्लिष्ट रहता है।[२८] अपनी मायाशक्ति से नामरूपात्मक विविध व्यावहारिक रूपों में प्रकट होने पर भी परमार्थतः समस्त व्यवहारों से अतीत ब्रह्म का निष्क्रियत्व बाधित नहीं होता।

माया की व्यावहारिक उपयोगिता है। इसी के द्वारा विश्व को हम वास्तविक मानकर अपने दैनिक जीवन में कार्य करते रहते हैं। अगर विश्व की वास्तविकता के विषय में संदेह हो जाए तो हमारे दैनिक कार्य ठप्प हो जाएँगे। माया ही हमें विश्व की वास्तविकता में विश्वास दिलाकर व्यावहारिक क्षेत्र में आगे बढ़ाती रहती है। अतः यह मनुष्य के जीवन और जगत् के सापेक्षिक अस्तित्व का प्रतिपादन करती है। मायावाद के बारे में शंकर के विचार को देखकर यह प्रतीत होता है कि उन्होंने मायावाद के परम्परागत स्वरूप को एक प्रामाणिक सुव्यवस्थित एवं स्वतंत्र सिद्धांत के रूप में प्रस्तुत किया है।

सन्दर्भ सूची :

१. ऋग्वेद ५/८५/५५
२. बृहदारण्यकोपनिषद् २/५/१७
३. प्रश्नोपनिषद् १/१६
४. निरुक्त ३/१९
५. श्वेताश्वतरोपनिषद् ४/१०
६. भगवद्गीता ७/१४
७. ब्रह्मसूत्र ३/२/३
८. योगवाशिष्ठ ३/९१/२४
९. वही, ३/११३/११.१२
१०. माण्डूक्यकारिका ४/५८
११. वही, ३/१०
१२. वही, ४/५८
१३. शंकराचार्यकाआचारदर्शन, पृ० ५८
१४. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य २/१/९
१५. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य १/४/३
१६. गीता ९/१०
१७. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य १/४/३
१८. तैत्तिरीयोपनिषद् २/१/१
१९. वही, ३/१
२०. विवेकचूडामणि, पृ० ११०
२१. कठोपनिषद् (शांकरभाष्य) १/३/१२
२२. ब्रह्मसूत्र उपोद्घात
२३. माण्डूक्यकारिका शांकरभाष्य २/४
२४. पञ्चपदिकाविवरण, पृ० ७३
२५. वेदान्तसार, पृ० १६
२६. भारतीय दर्शन की मौलिक अवधारणाएँ, पृ० १३०
२७. वही, पृ० १३२
२८. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य २/१/९

***

भूमंडलीय तापवृद्धि का पर्यालोचन

कुमार प्रशान्त सिंह सेंगर*

मानवीय गतिविधियों के कारण जलवाष्प को छोड़कर अन्य ग्रीन हाउस गैसों की मात्रा में लगातार वृद्धि हो रही है। मानवीय क्रियाकलापों द्वारा प्रति वर्ष लगभग ८ अरब टन कार्बन– डाईऑक्साइड वायुमण्डल में छोड़ी जा रही है। विकासशील देशों की तुलना में आज विकसित देश ग्लोबल वार्मिंग को बढ़ाने के लिये ज्यादा दोषी हैं। मौसम विज्ञान के क्षेत्र में कार्यरत एक सामाजिक संस्था "सोसाइटी फार एन्वायरमेंटल कम्युनिकेशन्स" के अनुसार प्रति व्यक्ति कार्बन डाईऑक्साइड के उत्सर्जन के मामले में अमेरिका भारत से २५ गुणा ज्यादा जिम्मेदार है। अमेरिका का एक व्यक्ति २५ भारतीय व्यक्तियों के बराबर कार्बनडाईआक्साइड का उत्सर्जन कर रहा है। ग्लोबल वार्मिंग को बढ़ाने में कार्बनडाईआक्साइड का ६० प्रतिशत, मीथेन का २० प्रतिशत व शेष २० प्रतिशत का योगदान नाइट्रस आक्साइड व ओजोन गैस का है।[१] अतएव ग्लोबल वार्मिंग के निम्नवत् दुष्प्रभाव दिखायी दे रहे हैं–

तापमान में वृद्धि– धरती के तापमान को रिकार्ड करने का प्रयास बहुत पहले से प्रारम्भ हो गया था। सन् १९९८ को अब तक का सबसे गर्म वर्ष पाया गया। हैरानी की बात यह है कि पिछले चार वर्षों ने अब तक के सबसे ज्यादा गर्म पाँच वर्षों में अपना स्थान बना लिया है। बढ़ते तापमान का ही परिणाम है कि अब तो यूरोप में भी आग की लपटों जैसी लू चलने लगी है। "एक अनुमान के अनुसार उत्तरी गोलार्द्ध में विगत एक हजार वर्ष में सबसे अधिक तापमान में वृद्धि २०वीं सदी में हुई है। पिछली सदी में धरती के औसत तापमान में ०.६ डिग्री सेल्सियस की वृद्धि हो चुकी है, और अब धरती ०.१ डिग्री सेल्सियम की प्रति दशक की रफ्तार से गरम रही है। वैज्ञानिकों का अनुमान है कि सन् २०५० तक कार्बनडाईआक्साइड में १० प्रतिशत और तापमान में १ प्रतिशत की वृद्धि हो सकती है।"[२]

सागरीय जल-स्तर में वृद्धि– पिछले १०० वर्षों में सागर का जल–स्तर १० से०मी० से लेकर २० से०मी० तक बढ़ा है। जल–स्तर उठने की दर १–२ मि०मी० प्रतिवर्ष है जो कि विगत ३,००० वर्षों की तुलना में १० गुना है। इसका मुख्य कारण सन् १८६० से वायुमण्डल के निम्न भाग में ०.६ + ०.२ डिग्री सेन्टीग्रेड ताप में वृद्धि है।"[३]

---

* शोधछात्र, महात्मा गाँधी चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय, चित्रकूट– सतना (म०प्र०)

एक अनुमान के मुताबिक सन् २०५० तक समुद्र का जल–स्तर १.५ मीटर से ३.५ मीटर तक बढ़ सकता है, जिसके कारण आधा मुम्बई शहर, कोलकाता व ढाका का निचला हिस्सा, अमेरिका का एक तिहाई फ्लोरिडा शहर, आस्ट्रेलिया का पूरा पर्थ शहर तथा हालैण्ड के कुछ हिस्से पूर्णत: जलमग्न हो जायेंगे। मालद्वीप जैसा देश तो सदा के लिए समुद्र की कोख में समा सकता है। सुनामी के कहर के बाद तो हम सहज ही अनुमान लगा सकते हैं कि सागर की उफनाती लहरें कितनी बड़ी तबाही मचा सकती हैं। समुद्र के जल–स्तर में वृद्धि से बाढ़ व तटीय भागों में अपक्षय की घटना बढ़ जाएगी। जब यह भू–भाग में प्रवेश करेगा तो इसका हानिकारक प्रभाव मीठे जल की गुणवत्ता पर पड़ेगा। समुद्र जल में वृद्धि से ज्वार आने, तूफान व भूकंप की संभावनाएँ भी बढ़ेंगी। यूनीवर्सिटी ऑफ मेरीलैण्ड के पर्यावरण विज्ञान केन्द्र द्वारा किए गए अध्ययनों के आधार पर अनुमान लगाया गया है कि ग्लोबल वार्मिंग के फलस्वरूप समुद्र की सतह में एक मिलीमीटर की वृद्धि लगभग डेढ़ मीटर समुद्री तट को लील लेगी। यानि २१वीं सदी के अंत तक अगर समुद्र १ मीटर बढ़ा तो डेढ़ लाख किमी० समुद्र तट सागर की कोख में समा जाएगा।

कृषि एवं खाद्य सुरक्षा– वैज्ञानिकों का मानना है कि २–५ डिग्री सेंटीग्रेड से कम भूमण्डलीय ताप वृद्धि का असर खाद्य सुरक्षा पर नहीं दिखायी पड़ेगा। किन्तु इससे अधिक होने पर शीतोष्ण तथा उपशीतोष्ण क्षेत्रों के उत्पाद में एक तिहाई कमी आ सकती है। उच्च तापमान के कारण कई फसलें चौपट होंगी तथा मैदानी इलाकों में चारागाहों की उत्पादकता भी घटेगी। अमेरिका, अफ्रीका व आस्ट्रेलिया के कुछ भागों में सूखे की संभावना बढ़ेगी। भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान के वैज्ञानिकों का कहना है कि तापमान में ३ डिग्री सेंटीग्रेड की वृद्धि से फसलों से मिलने वाली गेहूँ के उत्पादन में १५ से २० प्रतिशत की कमी आ जायेगी।[४]

जैव विविधता को खतरा– तापमान में वृद्धि का असर प्राणियों के निवास–स्थान पर पड़ेगा। जो प्राणी बदली हुई जलवायु में अपने को समायोजित नहीं कर पायेगी वह लाखों वर्ष पूर्व लुप्त हुए डायनासोर की तरह नष्ट होंगे। तापमान में वृद्धि के कारण विगत ३० वर्षों में सुन्दरवन के विख्यात मैंग्रोव वनों का १८,५००० एकड़ क्षेत्र सागर की चपेट में आकर नष्ट हो चुका है।

मौसम चक्र में परिवर्तन– वैज्ञानिकों का अनुमान है कि पृथ्वी के तापमान में १.५ डिग्री सेंटीग्रेड की वृद्धि जलवायु में इतना परिवर्तन ला सकती है जितना कि पिछले १० हजार वर्षों में नहीं हुआ। तापमान बढ़ने से समुद्र में वाष्पीकरण की दर में वृद्धि होगी जिससे वायुमण्डल में आर्द्रता बढ़ेगी तथा क्षेत्रीय वायुदाब में बदलाव आयेगा।

मौसम वैज्ञानिकों के अनुसार वर्ष १९९१ में बांग्लादेश में आए चक्रवात तथा १९९९ में उड़ीसा में आए महाचक्रवात का कारण ग्लोबल वार्मिंग ही था।

सूखते हिमनद– बढ़ते ताप का ही नतीजा है कि हिमालय का विशाल गंगोत्री हिमनद १०० फुट प्रति वर्ष की दर से सिकुड़ कर आज सिर्फ २६ किमी शेष रह गया है। यहीं पर स्थित छोटा शिंगरी हिमनद पिछले १४ वर्षों में १२ प्रतिशत घट चुका है। हिमालय का ही गंगापूर्ण हिमनद १५० मीटर पीछे खिसक चुका है। अन्य छोटे–छोटे हिमालयी हिमनद तो लगभग गायब हो चुके हैं। ग्लेशियरों के लगातार पिघलने से हिम तेंदुओं के अस्तित्व पर भी संकट के बादल छा गए हैं। अलास्का का विशाल बोरिंग और कोलंबिया ग्लेशियर भी पिछली शताब्दी के दौरान १० किमी से अधिक सिकुड़ चुके हैं।''[५]

आर्कटिक के आकार में बदलाव– नासा की ताजा रिपोर्ट के अनुसार पृथ्वी पर बढ़ती गर्मी की

वजह से आर्कटिक क्षेत्र में बर्फ की परत निरंतर पतली होती जा रही है और इस कारण उसका आकार भी बदलता जा रहा है। वैज्ञानिकों के अनुसार पिछले एक दशक में आर्कटिक क्षेत्र खासकर उत्तरी अमेरिका का तापमान काफी तेजी से बढ़ा है। इस क्षेत्र में पृथ्वी की सतह पर किए गए अध्ययन से पता चलता है कि पिछले १०० वर्षों की तुलना में १९८१ से २००१ तक आर्कटिक के तापमान में ८ गुना की वृद्धि हुयी है। अमेरिका व कनाडा की एक संयुक्त रिसर्च टीम ने भी अपने अध्ययन के आधार पर एक रिपोर्ट कुछ दिन पूर्व जारी की थी जिसमें बताया गया था कि आर्कटिक की सबसे बड़ी २७० वर्गमील आकार की बर्फ की चट्टान 'वार्ड हंट आइस शेल्प' में दरार आ गयी है। कई हजार सालों में पहली बार ऐसा हुआ है।''[६]

ओजोन परत क्षरण– वैज्ञानिकों के अनुसार उत्तर गोलार्द्ध के एक तिहाई से ज्यादा हिस्से में ग्रीन लैंड से लेकर साइबेरिया तथा अन्य हिस्सों में भी ओजोन परत का तेजी से क्षरण हो रहा है। ओजोन छिद्र के लगातार बढ़ने के कारण पृथ्वी पर नये–नये त्वचा रोग वैज्ञानिकों के लिये पहेली बनते जा रहे हैं। आस्ट्रेलिया तो सबसे ज्यादा चर्म रोगियों वाला देश बन गया है।

प्राकृतिक आपदाएँ– ग्लोबल वार्मिंग के फलस्वरूप मौसम चक्र में परिवर्तन हो रहा है। आइसलैंड के ज्वालामुखी से निकले राख व धुएँ के गुबार ने पूरे यूरोप को प्रभावित किया है। ''हाल ही में चीन, हैती समेत कई जगह आए बड़े भूकम्पों ने धरती को हिलाकर रख दिया। पिछले दो दशकों के दौरान दुनिया में आने वाली प्राकृतिक आपदाओं की संख्या में चार गुना की वृद्धि हुई है।''[७] ग्लेशियरों के पिघलने और समुद्र तल बढ़ने से महासागरों के अथाह जल भंडार के वितरण में बदलाव हुआ है, जिसके फलस्वरूप धरती पर भूकम्पीय सम्भावनाएँ बढ़ी है।

भूमण्डलीय तापवृद्धि एक बड़ी पर्यावरणी समस्या है। इसके दुष्परिणाम सुकड़ते हिमनद, सागरों के जलस्तर में वृद्धि, जलवायु परिवर्तन, कृषि उत्पादन पर प्रभाव के साथ मानव स्वास्थ्य पर विपरीत प्रभाव के रूप में उभरे हैं। भूमंडलीय तापवृद्धि नवीन सामाजिक व आर्थिक समस्याएँ पैदा करने जा रहा है जिसका सामना करना विश्व के तमाम देशों के लिये कठिन होगा। आर्थिक व सामाजिक समस्याओं के कारण अनेक देशों में राजनैतिक अस्थिरता पैदा होगी। अतः इस समस्या के समाधान हेतु 'क्योटो संधि' जैसे अनेक विश्वस्तरीय सम्मेलन में निर्धारित प्रयासों पर विश्व के सभी देशों को पूरी ईमानदारी से अमल करना होगा। एक–दूसरे पर दोषारोपण करना समस्या का समाधान नहीं है बल्कि दृढ़–इच्छाशक्ति के साथ लोगों को भूमंडलीय तापवृद्धि को रोकने के प्रयास करने होंगे।

संदर्भ सूची :

१. शर्मा एवं कौर–वायु प्रदूषण, पृ० ३५–४०
२. देशकाल सम्पदा, पृ० १०–१२
३. प्रो० एस०आर०एस० सेंगर– सततविकास, पृ० २४–२८
४. प्रो० एस०आर० सिंह सेंगर– पर्यावरणीय शिक्षा, पृ० ३०–३२
५. शर्मा रमेश दत्त, सूखते हिमनद– सहारा, १५ मई, २००४, पृ०८
६. दैनिक जागरण, ५ जून, २०१०, पृ० १२
७. योजना, जून, २००९, पृ० २७

***

संत रैदास के काव्य में दार्शनिकता

विनय कुमार शुक्ल 'विद्रोही'*
रोजीबाला**

हिन्दी साहित्य का मध्यकाल अनेक रहस्यों, विवादों, सम्भावनाओं एवं समाधानों से भरा पड़ा है जिसके अन्तस्तल में पहुँचकर अनेक रत्नों-विचारों को ढूँढ़ना आवश्यक बन गया है। अनेक कवि व संत-भक्त भक्तिकाल में अछूते दिख जायेंगे जिनकी समकालीन परिस्थितियों में अधिक प्रासंगिकता दिखाई देती है। ऐसे भक्तिकाल की निर्गुण काव्यधारा में संत रैदास अर्थात् रविदास के काव्य हमारे जीवन-जगत से सम्बन्ध होने के कारण सर्वाधिक प्रासंगिक बन गये हैं। रविदास का अभिप्राय सूर्य के सेवक या उपासक कह सकते हैं किन्तु सूर्य के द्वादश आदित्य नाम की भाँति इनका भी द्वादश नामोल्लेख प्राप्त होते हैं– यथा– रविदास, रैदास, रायदास, रुद्रदास, रुईदास, रयिदास, रोहीदास, रोहितास, रुहदास, रमादास, रामदास और हरिदास। इसी प्रकार नाम- भेद की भाँति रविदास के काव्य संग्रहों में भी भेद पाये जाते हैं। फुटकल इनके अनेक संग्रह प्राप्त होते हैं।

भक्तिकालीन अग्रगण्य कवियों में रविदास का नाम आदर के साथ लिया जाता है। निर्गुण काव्य की परम्परा में कबीर के बाद ही रविदास का स्थान प्रामाणिक न होते हुए भी सर्वमान्य है। यद्यपि रैदास कबीर के समकालीन और रामानन्द के द्वादश शिष्यों में विशिष्ट स्थान रखने वाले हैं 'भक्तमाल' ग्रंथ से रविदास की प्रामाणिकता सिद्ध हो जाती है–

श्रीरामानन्द रघुनाथ ज्यौं दुतिअ सेतु जगतरन कियो।
अनन्तानंद कबीर सुखा सुरसुरा पदमावति नरहरि।
पीपा भवानन्द रैदास धन्ना सेन सुरसरि की धरहरि।
औरों शिष्य प्रशिष्य एकतें एक उजागर।
विश्वमंगल आधार सर्वानन्द दशधा के आगर।
बहुकाल वपु धारिकै प्रनत जनन को पार दियो।।[१]

श्रेष्ठ भक्त के रूप में रैदास की ख्याति मध्यकालीन भक्त-संतों के बीच हो चुकी थी। लगभग पचास शब्दों में रैदास या रविदास की नोटिस कबीर के बाद अपने इतिहास में ले ली है। आचार्य शुक्ल ने लिखा है– ''रैदास का नाम धन्ना और मीराबाई ने बड़े आदर के साथ लिया है। रैदास की भक्ति भी निर्गुण ढाँचे की जान पड़ती है। कहीं तो वे अपने भगवान को सबको व्यापक देखते हैं– थावर जगम कीट पतंगा पूरिरह्यो हरिराई।''[२]

---

* शोधछात्र, (जे० आर० एफ०) हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
** शोधछात्रा, हिन्दी विभाग, ज०रा०वि०वि०, चित्रकूट (उ०प्र०)

अतः रविदास की बानियों एवं पदों में जिस स्वरूप का वर्णन मिलता है वह निखालिस निर्गुण तो नहीं किन्तु सगुण भी नहीं है परन्तु वह निर्गुनिया अधिक समझे गये, पर कबीर की धारा पर खरे नहीं पहुँचते हैं। संत रविदास के काव्यों के आधार पर आलोचकों ने भिन्न-भिन्न रूप गढ़ने का प्रयास किया है। डॉ० योगेन्द्र सिंह का विचार समीचीन लगता है– ''संत रैदास कोई विधिवत् दार्शनिक नहीं थे और न ही उन्होंने किसी दार्शनिक ग्रंथ को लिखकर दर्शन की कोई पद्धति चलाने की चेष्टा की है। यह बात लगभग सभी संतों के विषय में कही जा सकती है, अस्तु, सभी संत मूलतः भक्त थे तथा सामने आने वाली समस्याओं के प्रति एक ईमानदार चिंतक की भाँति उन्होंने समस्याओं पर सत्वपूर्ण प्रतिकाएँ दी हैं।''[३]

सम्पूर्ण भारतीय दर्शन का चिन्तन ब्रह्म, माया, जीव, जगत में ताना-बाना की भाँति बुना हुआ है। किसी ने केवल ब्रह्म को सत्य माना तो किसी ने ब्रह्म एवं जगत दोनों को उचित माना, थोड़ी और समन्वय की आवश्यकता दिखी तो जीव को बढ़ा लिया इसी भाँति माया को भी ब्रह्म की के शक्ति रूप में मानकर बृहदारण्यकोपनिषद् के इस तथ्य को स्वीकार कर लिया गया कि–

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।[४]

इस परात्पर ब्रह्म की स्थिति की अनुभूति कबीर, रैदास, नानक आदि ज्ञानियों द्वारा मार्मिक रूप में व्यंजित हुआ है। इस सत्य का साक्षात्कार करते हुए रैदास ने अपने पद में कहा है– पूरन ब्रह्म बसै सब ठाहीं।।[५]

जानत जानत जान रह्यो सब परम कहा निज जैसा।
कहत आन अनुभवत आन रस मिले न बेगर होई।।[६]

इस निराकार ब्रह्म को उपनिषदों की भाषा में रैदास ने भी अनेक नामों से गुणगान किया है।

निश्चल निराकार अति अनुपम निरमै गति गोविन्दा।
अगम अगोचर अक्षर अतरक निर्गुण अति आनन्दा।।
सदा अतीत ज्ञान विवर्जित निर्विकार अविनाशी।।[७]

ज्ञानमार्ग के साधक रैदास अपने रविदास के अस्तित्व सगुण मार्ग में भक्त के रूप में खड़े हुए दिखाई देते हैं जो 'हरि हरि हरि हरि हरि हरि हरि, हरि सुमिरत जग निस्तरे' को मानते हुए सगुण रूप ब्रह्म के अंशावतारों– राम, गोविन्द, विट्ठल, वासुदेव, हरि, विष्णु, बैकुण्ठ, मधुकैटभारि, कृष्ण, केशव आदि देवों की स्तुति– गुणगान में रैदास कह देते हैं–

जपो राम गोविन्द वीठुल वासुदेव हरि विष्णु बैकुण्ठ मधु कीट भारी।
कृष्न केशौ रखीकेस कवलीकन्त अहो भगवन्त त्रिविध सन्तापहारी।।[८]

कबीर आदि निर्गुनियों की भाँति 'रामा' के प्रति रैदास का विचार नहीं था। इसलिए हम कह सकते हैं कि रैदास ने राम नाम को अधिक महत्व देते सगुण के अधिक निकट ले आये। यद्यपि कबीर चिल्ला चुके थे कि 'दसरथ सुत तिहुँ लोक बखाना। राम नाम का मरम है आना।' फिर भी इनके समकालीन रैदास ने 'प्रभुजी तुम चन्दन हम पानी' के द्वारा ब्रह्म एवं जीव की शाश्वतता को स्थापित किया है– 'कह रैदास राम भजि भाई, संत साखि दै बहुरि न आवै।।'[९]

माया को लेकर सभी निर्गुणियों में वितण्डा फैला हुआ था। कबीर जहाँ 'माया' के लिए कहते हैं कि ''माया महाठगिनि हम जानी।।'' और कबीर की माया की प्रति यही सोच दूसरे ढंग की थी–

माया दोय प्रकार की देखी ठोंकि बजाय।

एक मिलावै राम पहँ एक नरक ले जाय।।

शंकराचार्य के मायावाद का प्रचार निर्गुणियों द्वारा समाज में अधिक उठाया गया क्योंकि शंकराचार्य माया को अस्तित्वहीन नहीं बताया था बल्कि माया को उसकी विचित्रता के कारण ही अनिर्वचनीय मान लिया था। जिसके महत्व को रैदास ने अनिर्वचनीयता की अभिव्यक्ति के रूप में स्वीकार किया है–

माधवे का कहिए भ्रम ऐसा, जैसा मानिए होय न तैसा।।[१०]

माया की भाँति रैदास जगत के अस्तित्व को भी स्वीकारते हैं क्योंकि उनके प्रभु का लीला विस्तार जगत ही है। यद्यपि शंकराचार्य का मायावाद इस संसार की मिथ्याभाव को ही प्रकट करता है। अभाव एवं दृश्य जगत की द्वैत स्थिति में रविदास भ्रम नहीं मानते बल्कि कहते हैं–

माधौ यह भरम कैसेहु न बिलाय ताते द्वैत भाव दरसाय।।[११]

इस जगत को रैदास सुख–दुःखात्मक भी मानते हैं क्योंकि यह व्यावहारिक ढंग से एक सत्कर्म क्षेत्र भी है।

रैदास का दर्शन क्षेत्र अनुभूति और सत्य की प्रतिष्ठा है। कर्म के प्रति निष्ठावान रैदास को उपेक्षा भी मिली लेकिन वे मानते हैं कि– ''तोहि मोहि, मोहि तोहि अंतरु कैसा। कनक कटिक जल तरंग जैसा।। उपनिषदिक ज्ञानकाण्ड के संवाहक हैं–

सबसे हरि हैं हरि में सब हैं, हरि अपने जीव जाना।।

अपनी आप साखि नहीं दूसरे जानैं जानन हारा।।[१४]

आत्मा और जीव की स्थिति ईश्वर के प्रति साहचर्य का भाव बना रहता है। वेदों से लेकर अधुनापर्यन्त जीव आत्मा की एकरूपता एवं तादात्म्य की स्थापना हो रही है। इनमें गूढ़ दार्शनिक तत्व नहीं, बल्कि सरल–सहज भी अभिव्यक्ति हुई है।

सन्दर्भ सूची :

१. नाभादास– भक्तमाल

२. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल– हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ५७

३. डॉ० योगेन्द्र सिंह– संत रैदास, पृ० ४६

४. बृहदारण्यकोपनिषद्– २/५/१९

५. डॉ० योगेन्द्र प्रताप सिंह– संत रैदास, पद, पृ० ४६

६. वही, पद– ८४

७. वही, पद– ८३

८. वही, पद– ४४

९. वही, पद– ३०

१०. वही, पद– २

११. वही, पद– ८३

१२. वही, पद–

१३. वही, पद–

१४. वही, पद– १३

***

जैनेन्द्र के उपन्यासों में भाषा संबंधी नये प्रयोग

अमर बहादुर सिंह*

प्रेमचन्द के बाद हिन्दी कथा–साहित्य में क्रांतिकारी परिवर्तन लाने का श्रेय जैनेन्द्र को जाता है, क्योंकि उन्होंने अन्तर्जीवन का गद्य लिखने की कोशिश की। प्रारम्भिक गद्य के दिनों में एक अनोखापन, एक अंतरंग चमक एवं बोलचाल की भाषा का सहज अटपटापन जैनेन्द्र की आन्तरिक विकलता की परिचायक थी। जैनेन्द्र का आगमन उस समय हुआ जब प्रेमचन्द सामाजिक वास्तविकता के मूर्त्त चित्रण की दिशा में और औपन्यासिक इतिवृत्त को महाकाव्योचित विस्तार देने की कोशिश में सहज भाषा के बल पर अपनी सार्थकता प्रमाणित कर चुके थे। जैनेन्द्र की आरम्भिक कथा–भाषा में निहित सहजता हिन्दी गद्य की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। जैनेन्द्र स्वयं अपने निबंध 'साहित्य का श्रेय और प्रेय' में कहते हैं कि "मुझे व्याकरण की चिन्ता पढ़ते समय बहुत नहीं रहती। भाषा की चुस्ती का या शिथिलता का ध्यान उसी के ध्यान की गरज से मैं नहीं रख पाता। भाषा की खूबी या कमी को सम्पूर्ण वस्तु के मर्म के साथ उसका किसी–न–किसी प्रकार सामंजस्य या वैषम्य बिठाकर मैं देख लेना चाहता हूँ। अत: यह नहीं कि मैं उस ओर नितान्त उदासीन या क्षमाशील हो रहता हूँ, किन्तु वहाँ समाप्त करके नहीं बैठ सकता।"[१] भाषा की पकड़ जैनेन्द्र के पास मजबूती से थी, प्रयोग के स्तर पर वे भाषा में परिष्कार भी करते रहते हैं। इसी मजबूती को वे अपनी रचना में प्रकट करते हुए भाषा के कुछ भिन्न रूप को प्रस्तुत कर जाते हैं। क्योंकि उनकी भाषा प्रकाशन के अनुरूप परिवर्तित होती रहती है। तभी तो रामस्वरूप चतुर्वेदी जी भी स्वीकार करते हैं कि " प्रेमचन्द के बाद उपन्यास की भाषा को नये ढंग से गलाने का काम किया जैनेन्द्र ने।"[२]

जैनेन्द्र की कथा दृष्टि और भाषा में निहित अबोधता महत्वपूर्ण अर्थ रखती है। वह छद्म नहीं जान पड़ती। जैनेन्द्र की अभिव्यक्ति में भाषिक बनावट का जादुई आकर्षण एक विशेष तरह का प्रभाव उत्पन्न करता है। सर्जनात्मक गद्य से हम यह अपेक्षा तो नहीं करते कि वह हमेशा यथार्थ के साथ–साथ चले। यथार्थ से एक तरह का निकट संबंध और एक तरह की दूरी बनाकर सृजनशील भाषा अक्सर अपना प्रयोजन सिद्ध करती है। जैनेन्द्र की भाषा में भी प्रेमचन्द के उपन्यासों की तरह ही स्वाभाविकता और सहजता पायी जाती है। उनकी भाषा में भावों को ऊँचाई तक उठाकर उन्हें अभिव्यक्त करने की, गजब की शक्ति है। उनके वाक्य प्राय: छोटे चलते पर साथ ही साथ मानों फूल बिखेरते हुए से चलते हैं। जैनेन्द्र की पुस्तकों के वाक्य बहुत ही छोटे, भाषा भी बड़ी चलती–सी है, पर उनके पढ़ने से मालूम होता है कि जितने छोटे वे मालूम पड़ते हैं, उतने हैं नहीं, उससे वे बड़े हैं। उनके वाक्य जितना कहते नहीं, उससे कहीं अधिक ध्वनित करते हैं, इंगित करते हैं और अपने अभ्यंतर में बैठकर देखने की प्रेरणा करते हैं।

जैनेन्द्र की रचनाओं को पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है, जैसे स्वयं बातचीत कर रहे हों। उनकी भाषा का प्रभाव ऐसा है, जो मनुष्य के अन्त:करण में घुल–मिल जाता है। जैसा कि 'कल्याणी' उपन्यास में

* शोधछात्र, (जे०आ०एफ०), हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

उन्होंने लिखा है– "जब कभी उधर से निकलता हूँ, मन उदास हो जाता है। कोशिश तो करता हूँ कि फिर उधर जाऊँ ही क्यों? लेकिन बेकार। सच बात यह है कि अगर मैं इस तरह एक-एक राह मूँदता चलूँ, तो फिर खुली रहने के लिए दिशा किधर और कौन शेष रह जायेगी? यों सब रुक जायेगा। पर रुकना नाम जिन्दगी का नहीं है। जिन्दगी नाम चलने का है।"[३] सर्वत्र जैनेन्द्र की रचना में लगभग यही भाषा और शैली है। उर्दू से घृणा नहीं, अंग्रेजी से परहेज नहीं, संस्कृत से दुराव नहीं। उनके यहाँ भेद-भाव की गंध नहीं है। केवल शर्त है तो स्वाभाविकता की, सहजता की और बोधगम्यता की।

जैनेन्द्र के उपन्यासों में भाषा साधन है, साध्य नहीं। सत्य की पकड़ भाषा द्वारा संभव नहीं हो सकती। तभी, वे 'कल्याणी' में फिर स्वीकारते हैं– "शब्द अधिकतर झूठ है। मन की तकलीफ को जब वे बढ़ावे और उस तकलीफ से जब वे बने, तब तो सच है, अन्यथा मिथ्या है। भाषा बस पहरावन है और शब्द कोई भी सार-सत्य को नहीं पकड़ सकता।"[४] जैनेन्द्र के उपन्यासों में ऐसे अनगिनत स्थल हैं जहाँ उनके पात्र वाणी द्वारा निवेदित करते हैं। जैनेन्द्र की भाषा की सजीवता, प्रभावोत्पादकता और हार्दिकता का जो स्वरूप 'परख' में मिलता है, वह अपना बेजोड़ स्थान रखता है– "यह तुम्हें जगत से लोप-विलोप-संलोप कर जायेगा और तुम्हारी जगह छोड़ जायेगा एक आलुलायित लोल-लोचन-कटाक्ष-संयुता, शुभ्राम्बर परिवेष्टिता, विधवविशेषयुक्ता, जगदम्ब स्वरूपा, मुक्तकेशी, सुहासिनी, गँवारिणी।"[५] ये संस्कृतनिष्ठ शब्दों की झाँकियों जैसी प्रतीत होती भाषा गहरे अर्थों से सामंजस्य स्थापित करती है।

कहीं-कहीं उनकी भाषा की तेज गति भी विशेष अर्थ या अभिप्राय को प्रकट करती है और कहीं रूप या स्थिति का सतर्क पर्यवेक्षण। जैसा 'परख' में उद्धृत है– "कट्टो गिलहरी को कहते हैं।.... झटपट यहाँ दौड़, वहाँ दौड़, इधर देख, उधर देख, ये सब भाव उसमें हैं।"[६] इस प्रकार की भाषा में एक तरह की ऐन्द्रिकता है जो कहीं तरल संवेदना और कहीं संवेदनात्मक तनाव को प्रत्यक्ष करती है। जैनेन्द्र मानते हैं कि ऐन्द्रिक संवेदन की फुरफुरी भर पैदा करने वाला गद्य समर्थ गद्य तो हो सकता है, उसे सशक्त गद्य कहना कठिन होगा। बृहत्तर यथार्थ से टकराने की प्रक्रिया में भाषा हमेशा नयी ताकत उपलब्ध करती है। जैनेन्द्र यथार्थ से बचते हैं, इसलिए भाषा से भी बचते हैं। भाषा उन्हें एक स्थिति के आगे बस पहरावन लगती है। शब्द सब झूठे लगते हैं, सार तत्व भाषा की पकड़ में नहीं आता 'अनामस्वामी' तक आते-जाते जैनेन्द्र को कहना पड़ा कि "भाषा गूँगी होती है, तभी वह कह पाती है।"[७] भाषा के मर्म से जैनेन्द्र अपरिचित नहीं हैं। वे 'साहित्य का श्रेय और प्रेम' में कहते हैं कि "शब्द जब मुझसे जाकर उतना अपने को नहीं जितना मेरे भाव को कहे, तब साफ हो जाता है कि शब्द और भाषा की चिन्ता अपनी खातिर अनावश्यक है। गलत या सही आदमी होता है, भाषा स्वयं गलत या सही नहीं हो सकती।"[८]

जैनेन्द्र की कथा भाषा के सार्थक संगठन को देखना चाहें तो 'त्यागपत्र' जैसी आरम्भिक कृति अधिक महत्वपूर्ण या उल्लेखनीय जान पड़ती है। यहाँ यथार्थ से निरन्तर मुठभेड़ भी है। भीतर की चिन्ताएँ बाहर की चुनौतियों से निरन्तर टकरा रही हैं और पीड़ा या वेदना के दर्शन निरा विचार नहीं हैं जिसकी कारण-कार्य व्याख्या की जा रही हो। संप्रेषित होने की सहजता और अनुभव की अद्वितीयता के बीच का तनाव यहाँ रचनात्मक भाषा के लिए संभावनाएँ बनी रहती है। "जैनेन्द्र की भाषा, उसका प्रयोग और वाक्य-विन्यास उनका नितांत निजी है। वे शब्दों की फिजूलखर्ची से बचते हुए संकेतों में, बातचीत की घरेलू आत्मीयता के साथ गहन गंभीर सूत्र देते चलते हैं। एक सुलझा हुआ चिंतक जिस आत्म विश्वास के साथ चिंतन प्रक्रिया में ही अपने को अभिव्यक्त करता चलता है उसी प्रकार जैनेन्द्र आत्ममंथन करते हुए शब्द और वाक्य को रूप देते हैं।"[९] जैनेन्द्र की कथावृत्तियाँ मनोविज्ञान की प्रयोगशाला के लिए नहीं लिखी गयी हैं लेकिन उनके मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण पर आलोचकों ने गहरी रुचि नहीं दिखाई है। नहीं तो जैनेन्द्र के

शब्दों के विन्यास एवं प्रयोग आज स्पष्ट हो गये होते। जैनेन्द्र की कथाभाषा और कृतियों के रूप पक्ष पर विचार करते हुए उनके अनुभव, कथा, अभिप्रेत को समझने की कोशिश की जानी चाहिए। जैनेन्द्र को स्वीकार और अस्वीकार करने के लिए भी सच्चे अर्थों में मूल्यांकन की यही उपयुक्त दिशा है।

इसी दिशा में निर्मला जैन 'जैनेन्द्र रचनावली' की भूमिका में कहती हैं कि ''उनकी आरम्भिक कथा-भाषा में एक तरह की ऐन्द्रिकता है, तरल संवेदना है, यथावश्यक भावोच्छ्वास भी है, जो कहीं-कहीं आलंकारिक प्रतीतियों का रूप और गति को मूर्त्त रूप देने में भी वह समर्थ है, और जहाँ अपेक्षा हो वहाँ वह संकेत-गर्भित भी हो जाती है। वह इसलिए हो पाता है कि संवेदनात्मक स्तर पर यथार्थ जीवन के साथ निकटता और दूरी की क्रीड़ा वहाँ चलती रहती है।''[१०] यथार्थवाद को अतिवाद और साहित्य मात्र का इष्ट, लगभग आत्मभोग मानते हुए जैनेन्द्र ने अपने कथा-संसार की ऐसी सीमाएँ निर्मित की हैं जिसमें अक्सर न तो उनकी कथावृत्तियों की अन्तर्वस्तु अप्रभावित है न भाषा। व्यक्ति की मानसिक उलझन को रूपायित करने के लिए उन्होंने वैसी ही भाषा का प्रयोग किया है जिसे रामरतन भटनागर ने 'जैनेन्द्र साहित्य और समीक्षा' में 'मन की भाषा' कहते हैं। ''जैनेन्द्र ज्ञान की नहीं, कर्म की नहीं, मन की भाषा देते हैं; परन्तु यह मन की भाषा विवेकमूलक नहीं हैं विवेक में मनुष्य की पराजय है, ऐसा जैनेन्द्र मानते हैं। इसी से जैनेन्द्र विशुद्ध भाव देना चाहते हैं, या विवेकनिष्ठ भाव, या भावनिष्ठ विवेक। भाषा की सारी व्यंजना-शक्ति से उन्होंने अपने सिद्धांतनिष्ठ भावजगत् को चित्रित किया है।''[११]

जैनेन्द्र भाषा में व्याकरण से भी बहुत छूट लेते हैं पर उनकी कथाभाषा के लिए वह कोई बड़ी समस्या नहीं, कहीं छूट से सौन्दर्य भी पैदा होता है। उनकी कथा भाषा के लिए संकट है, उनकी कथादृष्टि जो उन्हें अन्ततः सच के सौंदर्य की जगह मिथ्या के सौंदर्य की ओर ले जाती है। जैनेन्द्र ने स्वयं 'साहित्य का श्रेय और प्रेय' में कहते हैं कि ''शुरू में जो लिखा वह उन दबी हुई भाषाओं का रूपक था जो स्थिति की हीनता से कल्पना की सुरक्षितता में अपना बसेरा बसा- फैलाकर फलती-फूलती है। कुछ कहानियाँ बनी, जिनमें मैं जो खुद न बन सकता था, वह कहानियों के नायकों के जरिये बन गया।''[१२] जैनेन्द्र भाषा का बन्धन नहीं स्वीकार करते। उनकी दृष्टि में यदि भाषा की अभिव्यक्ति में बाधक रहती है तो उसकी उपादेयता महत्वहीन हो जाती है। जैनेन्द्र ने अपने रचनाकाल के आरम्भ से ही सहज तथा भावानुकूल भाषा का ही प्रयोग किया है। भाव-भाषा के जिस रूप में बह निकला, उसे उन्होंने रोकने की चेष्टा नहीं की। 'अनन्तर', 'मुक्तिबोध' आदि उपन्यासों में अंग्रेजी के शब्दों का ही नहीं, पूरे वाक्यों का प्रयोग किया गया है। अतः जैनेन्द्र की दृष्टि में भाषा का प्रवाह सुगम हो, भावों का संप्रेषण सरल हो, ये सारी मान्याताओं का निर्वाह अपनी उपन्यास रचना में करते हुए जैनेन्द्र उपन्यासों में भाषा संबंधी कुछ नये प्रयोग करने का प्रयास करते हैं।

संदर्भ सूची :

१. निर्मला जैन सं०- जैनेन्द्र रचनावली, खण्ड-९, पृ० २९५
२. रामस्वरूप चतुर्वेदी- हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, पृ० २०९
३. निर्मला जैन सं०- जैनेन्द्र रचनावली, खण्ड-१, पृ० ३७३
४. वही, पृ० ४३७ ५. वही, पृ० ८९
६. वही, पृ० ५२ ७. वही, पृ० २६१
८. वही, पृ० ३८७
९. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, विचारक जैनेन्द्र दस्तावेज- ११९/अप्रैल-जून/२००८, पृ० ५
१०. निर्मला जैन सं०- जैनेन्द्र रचनावली, खण्ड-१, 'भूमिका', पृ० ३०
११. रामरतन भटनागर- जैनेन्द्र साहित्य और समीक्षा, पृ० १४१-४२
१२. निर्मला जैन सं०- जैनेन्द्र रचनावली, खण्ड-९, पृ० २३०

***

वैदिक एवं आधुनिक ग्रामीण शिक्षा पद्धति

राकेश कुमार शुक्ल*

'शिक्षा'[१] शब्द संस्कृत की 'शिक्ष' धातु में टाप् प्रत्यय लगाने से बना है, जिसका अर्थ है 'ज्ञानोपार्जन' करना। संस्कृत की इस शिक्ष धातु से 'शिक्षण' शब्द भी बना है जिसका अर्थ सीखना होता है। अब 'शिक्षा' शब्द सीखने और सिखाने दोनों के अर्थ में प्रयुक्त होता है। वैदिक काल में शिक्षा को 'विद्या' कहा गया और शिक्षा का अर्थ बालक के मस्तिष्क में ज्ञान भरना ही समझा गया। इस प्रकार की 'शिक्षा' से बालक का सर्वांगीण विकास नहीं हो पाता था। आधुनिक शिक्षा के अर्थ के सम्बंध में प्राचीन धारणा बदल गई है और शिक्षा शब्द का प्रयोग नये अर्थ में किया जाने लगा है। 'शिक्षा' अंग्रेजी शब्द 'एजुकेशन' (Education) का हिन्दी रूपान्तर है, जो कि लैटिन भाषा के Educatum शब्द से निकला है। 'E' का अर्थ है 'अन्दर से' तथा 'Duco' का अर्थ है आगे बढ़ाना। अतएव शिक्षा का अर्थ है ''भीतर से बाहर निकालना'' या बालक के अन्तर्निहित शक्तियों एवं गुणों को प्रकट और विकसित करना। शिक्षा की निम्नलिखित परिभाषाएँ शिक्षा-शास्त्रियों ने दिया है–

''शारीरिक, मानसिक तथा बौद्धिक विकास की प्रक्रिया ही शिक्षा है।''[२] ''शिक्षा मनुष्य की आंतरिक शक्तियों का स्वाभाविक (व्यवस्थित) समन्वित तथा प्रगतिशील विकास है।''[३] ''शिक्षा से मेरा तात्पर्य है बालक और मनुष्य के शरीर, मस्तिष्क व आत्मा का उत्कृष्ट विकास।''[४] ''स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मस्तिष्क'' का निर्माण करना ही शिक्षा है।''[५]

वैदिक शिक्षा 'विद्यारम्भ संस्कार' से आरम्भ होती थी जिसमें पहले गणेश, सरस्वती, लक्ष्मी तथा कुलदेवों की पूजा होती थी। तत्पश्चात् शिक्षक पूर्व दिशा की ओर बैठकर वहीं पर बालक से 'ओम् स्वस्ति नमः सिद्धाय' आदि लिखवाकर विद्यारम्भ करवाता था। यह संस्कार ५ वर्ष की आयु में होता था। इस संस्कार के बाद 'उपनयन' संस्कार होता था जिसके होने से बालक द्विज कहा जाता था। यह संस्कार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के लिए क्रमशः आठ, ग्यारह तथा बारह वर्ष में प्रारम्भ किया जाता था तत्पश्चात् बालक गुरुकुल में गुरु के समीप रहकर विद्याध्यन करता था।

वैदिक शिक्षा पद्धति का ऋग्वेद में वर्णन आया है कि सर्वप्रथम ईश्वर ने ऋषियों की बुद्धि में वेद के शब्द प्रेरित किये। 'वेद' शब्द से प्रेरित होकर ऋषियों ने जगत के पदार्थों के नाम रखे तथा प्रेम-पूर्वक उस वाणी का मनुष्यों में प्रचार किया। यह वाणी श्रेष्ठ व निर्दोष थी।

''बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रैरत नाम धेयं दधानाः।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रभासीत्प्रेरणा तदेषां विहितं गुहाविः।।''

अध्यापक किस प्रकार से शिक्षण कार्य करे, इस संबंध में भी ऋग्वेद में वर्णन आया है कि जिस प्रकार गाय रसयुक्त गुणकारी दूध प्रदान करती है, उसी प्रकार अध्यापक निरन्तर अध्ययनशील होकर न सोता हुआ शिक्षण की प्रक्रिया को पूर्ण करे तथा ज्ञान प्रदान करे।

* शोधछात्र, शिक्षाशास्त्र संकाय, महात्मा गाँधी चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय, चित्रकूट, सतना, (म०प्र०)

वैदिक कालीन शिक्षा ग्रामीण परिवेश में गुरुकुलों में दी जाती थी जिसमें तीन चीजों पर विशेष ध्यान दिया जाता था– १. ब्रह्मचर्य, २. तप, ३. श्रम।

अथर्ववेद में इन तीनों चीजों का स्पष्ट प्रमाण प्राप्त होता है–

तं ब्रह्मणा तपसा श्रमेणानयैनं मेखलयासिनामि।

उपर्युक्त तीन बंधन न केवल छात्र के लिए होते थे अपितू अध्यापकों के लिए भी अनिवार्य समझे गये है, जैसे कि अगस्त जी कहते हैं– ''सा नो मेखलेमतिमा धेहि तव इन्द्रियं च।''

शिक्षा की व्याप्ति के सम्बंध में उपनिषद् साहित्य में एक राजा का कथन है–

''न मे स्तेने जनपदे नानाहिताग्निनी विद्वान।''

''मेरे राज्य में कोई भी निरक्षर नहीं है।'' निराधार नहीं माना जा सकता है। ''उपनिषद् काल में भारत में साक्षरता अस्सी प्रतिशत थी।''[८] वैदिक कालीन ग्रामीण शिक्षा किसी वर्ग विशेष के लिए सीमित नहीं थी, वरन् सामान्य जन तक शिक्षा ग्रहण कर सकते थे।

वैदिक ग्रामीण शिक्षा के पाठ्यविषय में वेद–वेदांगादि की शिक्षा, व्यावसायिक शिक्षा, चिकित्सा शिक्षा, कृषि–विज्ञान एवं पशुपालन की शिक्षा, सैनिक शिक्षा दी जाती थी तथा विद्यार्थी को सफलतापूर्वक और सुखमय जीवन व्यतीत करने के लिए ६४ कलाओं की शिक्षा प्रदान की जाती थी। वैदिक काल में गुरुकुल में ब्रह्मचारी की शिक्षा समाप्ति पर समारोह आयोजित किया जाता था, जिसमें आचार्य उसे ऐसा उपदेश देता था जो उसके भावी जीवन को प्रगतिमय बनाते थे यह आयोजन 'समावर्तन संस्कार' या 'स्नान संस्कार' के नाम से सम्पन्न होता था। समावर्तन का अर्थ गुरु के यहाँ से शिक्षा प्राप्त करके घर लौटना।

वैदिक काल में पाठ्यक्रम के अतिरिक्त भिन्न–भिन्न शिक्षायें दी जाती थीं। जैसे– जीवनमूल्यों की शिक्षा, मानवीय सम्बन्धों की शिक्षा, भावनात्मक विकास की शिक्षा, सिद्धान्त और प्रयोग के समन्वय की शिक्षा। अतः गुरुकुल–शिक्षा की मूल अवधारणा थी– विद्यार्थी का चतुर्दिक विकास। भारत के प्रमुख गुरुकुल या शिक्षा केन्द्र इस प्रकार से थे– तक्षशिला, नालन्दा, कश्मीर, धारा, बलभी, जगद्दला, ओदत्तपुरी, मिथिला, काँची, काशी आदि थे।

आधुनिक शिक्षा की शुरुआत ब्रिटिश काल से मानी जाती है। भारत में १८८२ में हण्टर आयोग ने प्राथमिक शिक्षा में सुधार किये। मुदालियर आयोग ने माध्यमिक शिक्षा पर जोर दिया और कोठारी कमीशन, राधाकृष्णन आयोग, नई शिक्षा नीति, राममूर्ति रिपोर्ट आदि ने उच्च शिक्षा पर विशेष जोर दिया।

आधुनिक ग्रामीण शिक्षा सरकार द्वारा संचालित की जाती है, क्योंकि ग्रामीण क्षेत्रों में कान्वेन्ट विद्यालयों का अभाव है। सरकार ग्रामीण शिक्षा की गुणवत्ता बढ़ाने के लिए नवोदय विद्यालयों की स्थापना की जिसमें ग्रामीण क्षेत्रों के बालकों को ८०% आरक्षण की व्यवस्था की है।

आधुनिक ग्रामीण शिक्षा को प्रभावशाली बनाने के लिए विश्वबैंक द्वारा २००१ में सर्वशिक्षा अभियान शुरू किया गया जो देश के सभी राज्यों में लागू है। ६ वर्ष से १४ वर्ष तक अनिवार्य निःशुल्क शिक्षा केन्द्र सरकार ने लागू किया इसमें ७ अध्याय और ३८ धाराएँ हैं।

शिक्षा के अधिकार कानून के तहत आर०टी०ई० (Write to Education) २००९ के तहत उ०प्र० सरकार ने लागू किया। एम०डी०एम० (Mid Day Meal) सर्वशिक्षा अभियान के तहत लागू की गई। जिसमें बालिकाओं को मुफ्त वस्त्र एवं बैग और पाठ्य सामग्री और दोपहर का भोजन निःशुल्क दिया जाता है। आर०टी०ई० एक्ट के तहत किसी बालक एवं बालिका को कक्षा में पास होने से रोका नहीं जा सकता है। इस योजना के तहत प्राथमिक स्तर पर बच्चों को ४ घण्टे शिक्षण कार्य एवं ३ घण्टे अन्य कार्य, उच्च–प्राथमिक स्तर पर ५ घण्टे शिक्षण कार्य ढाई घण्टे अन्य कार्य।

८६वाँ संविधान संशोधन में अनु० ५१ के तहत अगर बालक/बालिकाओं को माता–पिता स्कूल नहीं भेजते हैं तो दण्डनीय अपराध माना जायेगा।

सर्वशिक्षा अभियान के तहत अध्यापक अगर किसी बालक या बालिका पर दमनात्मक अनुशासन अपनाता है और बालक/बालिका के अभिभावक अध्यापक के खिलाफ कार्यवाही करते हैं तो उसका निर्णय सुप्रीम कोर्ट का न्यायाधीश करेगा।

'राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा- २००५' में ५ अध्याय हैं–

१. परिप्रेक्ष्य, २. सीखना, ३. पाठ्यचर्या के क्षेत्र,

४. विद्यालय एवं कक्षा का वातावरण, ५. व्यवस्थागत सुधार।

सर्वशिक्षा अभियान के तहत प्राथमिक स्तर पर २०० कार्य दिवस एवं उच्च-प्राथमिक में २२० कार्य दिवस अधिक से अधिक रहेंगे।

मानिकपुर विकासखण्ड में मैंने प्राथमिक विद्यालय गड़रिन पुरवा, खरौध एवं प्राथमिक विद्यालय ऐंचवारा जिला- चित्रकूट (उ०प्र०) का निरीक्षण करने के बाद पाया कि सर्वशिक्षा अभियान एवं आर०टी०ई० एक्ट तथा 'राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा-२००५' के तहत जो शिक्षण अधिगम प्रक्रिया की रूपरेखा है वह किताब के पन्नों तक ही सीमित है। ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षा का स्तर बहुत ही असंतोषजनक है, अभिभावकों से मिलने पर वह कहते हैं कि शिक्षक लोग ध्यान नहीं देते हैं लेकिन ग्रामीण शिक्षा के अवमूल्यन में दोषी अभिभावक, शिक्षक, गरीबी एवं वातावरण है। पुराने बुजुर्गों से पूछा जाय कि शिक्षा अब अच्छी है या पहले तो वे लोग कहते हैं कि पहले की; जबकि आधुनिक शिक्षा में अनेकानेक शिक्षा-शास्त्रियों एवं आयोगों के द्वारा शिक्षा में दिन-प्रतिदिन सुधार किया जा रहा है फिर भी आधुनिक ग्रामीण शिक्षा गुणवत्तापरक नहीं हैं क्योंकि कि प्राचीनकाल या वैदिक ग्रामीण शिक्षा का समीक्षात्मक अध्ययन करें तो आधुनिक शिक्षण अधिगम प्रक्रिया में वैदिक कालीन परिवेश की जरूरत है क्योंकि आधुनिक ग्रामीण शिक्षा में मूल्यों में गिरावट आयी है भौतिकता हमारे आध्यात्मिक वातावरण को दूषित बनाती है।

वैदिक ग्रामीण शिक्षा का उद्देश्य आदर्शवादी विचारधारा पर आधारित अध्यापक केन्द्रित शिक्षा थी जिसका उद्देश्य ज्ञान प्राप्त करना एवं ज्ञान को समाज में बाँटना। लेकिन आधुनिक ग्रामीण शिक्षा प्रकृतिवादी एवं प्रयोजनवादी विचारधारा के अनुसार- शिक्षा बाल केन्द्रित है एवं शिक्षा का उद्देश्य प्रयोजनवादी अर्थात् ज्ञान प्राप्त करना नहीं, नौकरी प्राप्त करना या अच्छे अंक प्राप्त करना है। भारत में गुरुकुल शिक्षा पद्धति का समीक्षात्मक अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि गुरुकुल शिक्षा पद्धति एक श्रेष्ठतम शिक्षा पद्धति थी जो वर्तमान में अत्यन्त प्रासंगिक है।

वैदिक शिक्षा पद्धति के लाभ को समाज के सामने रखने का प्रयास कर रहा हूँ जिससे आज की शिक्षा पद्धति में जिन संस्कारों की कमी आयी है वह संस्कार भारतीय छात्रों में पुनः जीवित हो सके तथा उनका नैतिक स्तर उच्च हो सके। आधुनिक ग्रामीण शिक्षा में साक्षरता बढ़ रही है, लेकिन व्यक्ति शिक्षित नहीं हो रहा है। जैसे कबीर शिक्षित थे, लेकिन साक्षर नहीं। आधुनिक शिक्षा मनोवैज्ञानिक विधियों के द्वारा दी जा रही है। फिर भी आधुनिक शिक्षा में वह परिवेश नहीं है।

संदर्भ सूची :

१. डॉ० वी०के० अग्निहोत्री- भारतीय इतिहास, पृ० ५१
२. वामन शिवराम आप्टे- संस्कृत हिन्दी कोष, पृ० ३५९
३. डॉ० एस०पी० गुप्ता- उच्चतर शिक्षा मनोविज्ञान, पृ० ३
४. डॉ० मालती सारस्वत- शिक्षा मनोविज्ञान की रूपरेखा, पृ० १३ ५. वही, पृ० १४
६. यू०जी०सी० (नेट/स्लेट)- शिक्षा शास्त्र, पृ० २९३
७. डॉ० एस०पी० गुप्ता- उच्चतर शिक्षा मनोविज्ञान, पृ० ४,
८. डॉ० के०सी० श्रीवास्तव- प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० ,
९. राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा- २००५, संवाद, पृ० ६ १०. वही, संवाद, पृ० ७

***

अवधी लोकगीतों में क्रान्तिकारी जन-चेतना

राजकुमार वर्मा*

अवधी लोकगीत अवध के लोकसमाज की अमूल्य निधि है। इन लोकगीतों के माध्यम से अवधी क्षेत्र के लोकजन कजरी, फाग, विरहा आदि गाकर आनन्दित होते रहे हैं। ये लोकगीत समय-समय पर परिवार, समाज व देश के प्रति कर्तव्यबोध कराते रहे हैं, यही नहीं अवधी लोकगीतकार वीर और शहीदों के शौर्य व बलिदान का गौरवगान करके देशप्रेम की भावना जागृत करते रहे हैं। इनकी मुक्ति-संघर्ष में राष्ट्रीय शिष्ट-साहित्य की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण रही है। शिष्ट-साहित्य कुछ पढ़े-लिखे लोगों तक ही पहुँच सका परन्तु इन राष्ट्रीय लोकगीतों ने लाखों व्यक्तियों को समय-समय पर प्रभावित एवं प्रोत्साहित करते रहे हैं। इन राष्ट्रीय एवं क्रान्तिकारी लोकगीतों को जनसभाओं में गाकर सुनाया जाता रहा है। इससे हजारों ग्रामीणों के हृदय में स्वतन्त्रता की भावना जागी और वे अधिक उत्साह के साथ मुक्तिसंग्राम की लड़ाई में शामिल हुए। इन लोकगीतों से स्वाधीनता संग्राम जन-आन्दोलन का मार्ग प्रशस्त हुआ।

अवधी क्षेत्र के लोकगीतकारों द्वारा समय-समय पर राष्ट्रीय भावनाओं से परिपूर्ण लोकगीत गाये जाते रहे हैं, जो इस प्रकार है –

> राजा बखानों में गोण्डा के, देवीबकस महाराज रहे।
> असीचार चौरासी कोस मां, जेहिके डंका बाजि रहे।
> गोण्डा गै पाती तै झांसी, झांसी के राजा रामलला,
> साथ हमारा दीजौ राजा, हमरे राज में चोर हला।[१]

यह लोकगीत अवध के गोण्डा जिले में गाया जाता रहा है। इस लोक गीत में १८५७ ईस्वी के भारत के प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम में तत्कालीन गोण्डा के राजा देवीबक्श के संघर्ष में उल्लेखनीय योगदान का वर्णन किया गया है। इस लोकगीत में देवीबक्श का तत्कालीन अवध के तालुकेदारों, जमींदारों के सम्बन्धों के साथ-साथ राष्ट्र-प्रेम, युद्ध कौशल तथा अंग्रेजों के मध्य संघर्षों का वर्णन किया गया है।

> जमींदार सब मिल गए गुल्खान, मिलि मिलि के कमाई रे।
> एक तो बिन सब कट कट जाई, दूसरे गढ़ी खुदवाई रे।[२]

उपर्युक्त लोकगीत में अवध के रायबरेली जिले के भांकरपुर के राजा बेनीमाधव को अंग्रेजों ने अत्यधिक लालच देने का प्रयास किया लेकिन बेनीमाधव अपने निश्चय पर अडिग रहे। राजा के शरीर में जब तक प्राण रहा तब तक अपने सहयोगी जमींदारों एवं तालुकेदारों के साथ लड़ते रहे। इनकी इस अमर देश की स्वाधीनता की कहानी के लोकगीत अवध क्षेत्र में गाये जाते रहे हैं।

> अपनी गढ़ी से बोले गुलाबसिंह, सुना रे साहब मोरी बात रे,
> पैदल भी मारे, सवार भी मारे, मारे फौजी बेहिसाब रे।[३]

* अध्येता, हिन्दी विभाग, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन, पिन – ४५६०१०(म.प्र.)

उपर्युक्त लोकगीत में संडीला के राजा गुलाबसिंह सन् १८५७ ई० की लड़ाई में अंग्रेजों के मध्य हुए संघर्ष का गुणगान किया गया है। इस लोकगीत में राजा द्वारा लड़े प्रथम लड़ाई खमनागढ़, दूसरी लड़ाई रहीमाबाद तथा तीसरी लड़ाई संडीला में लड़ी और संडीला में अपना मुख्यालय बनाया। यह गुणगान लोकमानस में शौर्य व बलिदान की प्रेरणा स्रोत रही है।

अब काहे सोचत है, देसवा जुलम मां हमारे रे।
पहिले मुकाम कानपुर किन्हों, दुसरा बनारस जाय रे।
तीसर मुकाम कल्कत्ता किन्हों, न कोई आवत् जात रे।
हिया से भागी हुआ लागि है, नदियाँ घाघरा के पारे रे।[४]

इस लोकगीत में १८५७ ई० के समय लखनऊ के अपहरण का वर्णन किया गया। लोकगीत में यह बताया गया है कि अवध क्षेत्र में सर्वप्रथम कानपुर का अधिग्रहण किया दूसरा बनारस का किया और कलकत्ता पर पूर्णरूप से अंग्रेजों का आधिपत्य हो गया है और अवध के समस्त जमींदार, तालुकेदार तथा शासक वर्ग के परिवार वाले घाघरा नदी को पार कर नेपाल भाग रहे हैं। इसमें रचनाकारण तत्कालीन अवध शासक व जमींदार, तालुकेदारों की नीतियों के सम्बन्ध में विचारणीय स्थिति का वर्णन किया है।

अबकी बार राजा स्वामी से मिला दो,
चेरिया मैं ह्वै तुम्हारी हो।
x x x x x
लोग बाग सब व्याकुल होइगे, अच्छी लूट मचाई।
तख्त उलटि गा बादशाह का, राज फिरंगी पाई।[५]

इस लोकगीत में अवध के नवाब 'वाजिद अली शाह' की 'बेगम हजरत महल' ने अवध के जमींदारों, तालुकेदारों व जनता को एकत्र किया और अंग्रेजों के विरुद्ध १८५७ ई० की क्रान्ति में अपने कौशल के साथ संघर्ष किया लेकिन अवध के कुछ जमींदार व तालुकेदारों अपसी फूट व विश्वासघात के कारण उन्हें लखनऊ भागकर नेपाल जाना पड़ा और अवध की राजधानी लखनऊ पर ब्रिटिश लोगों का अधिकार हो गया।

मीरा केरि लन्दन लागि निसानी, सनसत्तावन भारत बिगड़ गये थे,
जिहसे गौरमिंट घबरानी।
बिगड़ उठी झांसी के सेरनी, लक्ष्मीबाई वरदानी।
तब उड़ि के सब्जा पार किहो है, खड़ी फौज खिसियानी।[६]

इस लोकगीत को १८५७ ई० के समय झांसी की रानी लक्ष्मीबाई अंग्रेजी सेना से बुरी तरह घिरी हुई थी तब उन्होंने अपने रण कौशल से अंग्रेजी सेना बाहर निकलने में सफल हुई, का वर्णन किया गया है।

ये जालिम न रखनी, न रखनी सरकार।
जलियांवाले बाग मां, जाकर मारे कई हजार।[७]

यह लोकगीत अवध में १३ अप्रैल, १९१९ ई० में पंजाब के जलियांवाला बाग हत्याकाण्ड के सम्बन्ध में गाया जाता रहा है। इस गीत में अंग्रेजों द्वारा निरीह हजारों भारतीय लोगों की हत्या का मर्म स्पष्ट किया गया है। इस घटना पर अंग्रेजी सरकार अपना कड़ा रुख अपनाते हुए नृशंसता का वर्णन किया गया है।

विदेसी करो बहिष्कार इ होरी माँ,
मलमल डारो, मलमल डारो, लंका सायर को लट्ठा इ होरी माँ।

मनचेस्टर की तन्जेब होय, धुंआधार इ होरी माँ।
गांधीमहात्मा चरखवा चालाइन, खद्दर से कर लियो पियार। इ होरी माँ।[८]

यह लोकगीत गांधी द्वारा चलाये गये असहयोग एवं सविनय अवज्ञा आंदोलन के समय स्वदेशी वस्तु के अपनाने एवं विदेशी वस्तुओं की सांकेतिक रूप से होली जलाने एवं बहिष्कार के सम्बन्ध में गाया गया है।

मोरे चरखा के न टूटे तार, चरखवा चालू रहे।
गांधी महात्मा दुल्हा बने हे, ओ दुलहिनी बनी सरकार।
चरखवा चालू रहे।
सारे कांग्रेसी बने हैं बराती, अरे पुलिस बनी कहार।
चरखवा चालू रहे।[९]

इस लोकगीत में स्वदेशी कपड़ों व वस्तुओं को अपनाने का संदेश देते हुए गायन किया गया है। इस गीत में महात्मा गांधी व जवाहरलाल नेहरू, लालबहादुर शास्त्री के साथ-साथ समस्त भारतीय जनता के सहयोग को बताया गया है।

जागा वीर भारती देसवा के रतनवां, मैदनवां बाटे चीन से रचा।
वीर भगतसिंह, तात्याटोपे, छत्रपति के लाल,
राना के सन्तान अनोखे, विकट काल के काल।
दुसमन लावा समर जेस खेती, लवै किसनी मैदनवाँ।
बेड़ी समर भूमि माँ, काटि करो खरिहनवाँ, मैदनवाँ।[१०]

यह लोकगीत भारत-चीन युद्ध के समय भारत की अलसाई, निज जनता को जगाने के लिये गाया गया था। इसका अवध के लोगों में राष्ट्र चेतना जागृत करने के लिये इस लोकगीत का समय-समय पर गायन होता रहा है।

इस प्रकार अवधी लोकगीतों में मनोरंजन के साथ क्रान्तिकारी गतिविधियों व जनचेतना में जागृत करके सफल रही है। यह अवधी लोकगीत लोक मानस की अमूल्य निधि परम्परा है। प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम से लेकर जलियाँवाला बाग हत्याकाण्ड, असहयोग आंदोलन, सविनय अवज्ञा आंदोलन, स्वदेशी आंदोलन, भारत छोड़ो आंदोलन, चीन-भारत युद्ध आदि लोकगीतों का अवध क्षेत्र में गायन किया जाता रहा है। जन-जन में रचे बसे इस लोकगीत द्वारा जहाँ लोगों को जोड़ने का प्रयास किया वहीं दूसरी तरफ अवधी लोकगीत साहित्य को भी समृद्ध करने का कार्य किया। जो अवध प्रान्त के लोगों में देश, समाज एवं आत्मरक्षा के लिए उत्तरोत्तर प्रभावित एवं प्रोत्साहित करती रहेगी।

सन्दर्भ सूची :

१. वर्मा, धीरेन्द्र- हिन्दी साहित्य कोश, पृ. ७०
२. सक्सेना, बाबूराम- इवोल्यूशन ऑफ अवधी, प्रस्तावना।
३. तिवारी, उदयनारायण- हिन्दी भाषा का उद्‌गम और विकास, पृ. २७२-८०
४. अवस्थी प्रतापनारायण - अवधी लोकगीत हजारा, पृ. ३३
५. उपाध्याय, विश्वामित्र- लोकगीतों में क्रान्तिकारी चेतना, पृ. ५८
६. उपाध्याय, विश्वामित्र - लोकगीतों में क्रान्तिकारी चेतना, पृ. ६१
७. रस्तोगी, सरोजनी - अवधी लोकगीत, पृ. ५८६
८. उपाध्याय, विश्वामित्र- लोकगीतों में क्रान्तिकारी चेतना, पृ. ६५
९. रस्तोगी, सरोजनी - अवधी लोकगीत, पृ. ५८५
१०. वही, पृ. ५८३
११. वही, पृ. ५८३
१२. अवस्थी- प्रतापनारायण- वही, पृ. १९८
१३. वही, पृ. ६३

***

स्मृतियों में वर्णित पर्यावरण

आशा देवी*

पर्यावरण से हमारा जन्म-जन्मान्तर का साथ है। इसी की गोद में हम सब पैदा हुए हैं, पलते हैं और भाँति-भाँति के क्रियाकलापों को करते हैं। पर्यावरण के अन्तर्गत सृष्टि की सारी रचनायें आ जाती हैं, यानि प्रकृति, पेड़-पौधे और प्राणी, साथ ही जल, थल और वायु में चलने वाली हमारी सारी प्रक्रिया थी।

पर्यावरण शब्द सात व्यंजनों की सहायता से उच्चारित होता है-

'प' भाब्द संस्कृत या नागरी वर्णमाला का इक्कीसवाँ व्यंजन है। इसका उच्चारण ओष्ठ्य है। इसके उच्चारण के लिये विचार, श्वाँस, घोष और अल्पप्राण का व्यवहार किया जाता है।[१]

'र' सत्ताईसवाँ व्यंजन है। इसका उच्चारण जीभ के अगले भाग की मूर्द्धा के साथ थोड़ा-सा स्पष्ट कराने से होता है। इसका तात्पर्य ताप, वेग एवं सोना है।[२]

'य' छब्बीसवाँ अक्षर है। उच्चारण स्थान तालु है। 'य' वर्ण अल्पप्राण है। इसका तात्पर्य वायु से है।[३]

'आ' वर्णमाला का दूसरा शब्द है। यह 'अ' का दीर्घ रूप है। इसका प्रयोग अनुकंपा, दया, व्याप्ति अवधि के लिए किया जाता है। जब यह क्रिया अथवा संख्यावाचक शब्दों के पूर्व लगाया जाता है तब यह समीप या चारों ओर से आदि के अर्थ को बताता है।[४] 'व' उनतीसवाँ व्यंजन है। इसका उच्चारण दांत और ओष्ठ की सहायता से किया जाता है। इसका तात्पर्य वरुण, पवन, हवा, कल्याण, मंगल, समुद्र एवं वृक्ष से है।[५] 'र' इस व्यंजन का वर्णन ऊपर किया गया हैं। 'ण' पन्द्रहवाँ व्यंजन है। इसका उच्चारण स्थान मूर्द्धा से है। इसका तात्पर्य शिव, पति का घर है।[६]

इस प्रकार यह सात स्वर और व्यंजन पर्यावरण के घटकों का बोध कराते हैं। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश, व्यंजन पाँचवाँ पर्यावरण के कल्याण का सूचक है और संरक्षण का द्योतक सिद्ध होता है। 'परि' तथा आवरण इन दो शब्दों के मेल से बने पर्यावरण शब्द का अभिप्राय है, चारों तरफ का घेरा। परि उपसर्ग है इसका अर्थ है चारों ओर आच्छादित एवं सब दिशाओं में और आवरण का अर्थ घेरना है। यानि चारों ओर से घेरने वाला पर्यावरण।[७] चारों ओर की भूमि वायु और पानी ही हमारा पर्यावरण है।[८]

स्मृतियों में पर्यावरण सम्बन्धी धारणा उत्कृष्ट रूप में उपलब्ध होती है। जल-शुद्धि, वायु-शुद्धि और भूमि-शुद्धि के विषय में अनेक वर्णन मिलते हैं। इसके अतिरिक्त वृक्ष-वनस्पति-संरक्षण, पशु संरक्षण की धारणा बनाये रखने के लिये दण्ड और प्रायश्चित विधान का वर्णन उपलब्ध होता है।

अत्रि स्मृति में अत्रि जी ने त्रिलोक के कल्याण के विषय में सम्पूर्ण पाप सन्देहों का नाश करने वाले सनातन धर्म-भाास्त्र का वर्णन करते हैं। जल-शुद्धि के विषय में उल्लेख मिलता है कि जलाशय, बावड़ी,

* शोधछात्रा, शिक्षाशास्त्र संकाय, महात्मा गाँधी चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय, चित्रकूट, सतना, (म०प्र०)

कुआँ, तालाब मृत इत्यादि के स्पर्श से दूषित हो जाते हैं या अस्थि और चर्म एवं गर्दभ, कुत्ते बीच में गिरकर मर गये हो तो उनकी शुद्धि छः सौ घड़े जल भरकर बाहर निकालने और सम्पूर्ण उदक निकालने से तथा पंचगव्य डालने से होता है।

वापीकूपतडागानां दूषितानां च शोवनम्।
उद्धरेत्षटशतं पूर्ण पंचगव्येन शुद्धयति।।[९]

स्मृतियों में उल्लेख मिलता है कि विपत्ति (अकाल) में जल के निमित्त यज्ञ किया जाता है। विधिपूर्वक अग्नि में छोड़ी हुई आहुति सूर्य के कणों को प्राप्त करती हैं। सूर्य से वृष्टि होती है, वृष्टि से अन्न की उत्पत्ति होती है और अन्न से प्रजा की। इस प्रकार प्रजाओं की उत्पत्ति का मूल यज्ञ है।

अग्नौ प्रस्ताहुति सम्यगादित्यमुपपतिश्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्न ततः प्रजाः।।[१०]

भूमि संरक्षण की धारणा बनाये रखने के लिये पृथ्वी-शुद्धि के उपायों का मनुस्मृति में उल्लेख मिलता है कि पृथ्वी की शुद्धि जल छिड़कने, बुहारने, लीपने और खोदने से ही हो जाती है और गायों के रहने से भी होती है।

संमार्जनोपांजनेन सेकेनोल्लेखनेन च।
गवां च परिवासेन भूमिशुद्धयति पंचाभिः।।[११]

स्वस्थ रहता हुआ जो व्यक्ति राजमार्ग पर मलमूत्र कर दे, राजा उसे दो कार्षापण से दण्डित करे तथा उसी से उस मल-मूत्र को साफ करवायें। यदि रोगी, बूढ़ा, गर्भिणी या बालक राजमार्ग पर मल-मूत्र कर दे तो उसे सावधान करते हुए निषेध कर दें तथा उस स्थान को स्वच्छ करवा लें। मनुस्मृति में इन्हें आर्थिक दण्ड न देना, शास्त्र मर्यादा बतलाई गयी है। शास्त्र में भूमि शुद्ध रखने के लिये इन स्थानों पर मल-मूत्र इत्यादि वर्जित किया है-बीच रास्ते में, भस्म पर, गोशाला में, जुते हुए खेत में, पानी में, ईंट के भट्ठा में, बर्तनों कि आवाँ में, पहाड़ पर, पुराने देव मंदिर में, बाम्बी पर तथा जीवयुक्त बिलों में, चलते और खड़े होकर भी कभी मल-मूत्र का त्याग न करें। इसके अतिरिक्त वायु, अग्नि, ब्राह्मण, सूर्य, पानी और गायों को देखते हुए मल-मूत्र का त्याग करना वर्जित किया गया है।[१२]

स्मृतियों में वृक्ष, वनस्पति संरक्षण को धारण बनाये रखने के लिये दण्ड एवं प्रायश्चित विधान का वर्णन किया गया है। उनके सुखी-दुःखी आदि के होने का वर्णन उपलब्ध होता है। पूर्व जन्म के कारण पेड़-पौधे अत्यधिक तमोगुण से युक्त अन्तरचेतना वाले तथा सुख-दुःख के अनुभव से युक्त होते हैं। इसलिये वृक्ष, लता आदि सब पौधों के फल-फूल, पत्तों और लकड़ी आदि के द्वारा जैसा-जैसा उपभोग होता हो, उनको नष्ट करने वाले अपराधी को वैसा ही दण्ड देना चाहिये ऐसा मनुस्मृति में उल्लेख मिलता है।

याज्ञवल्क्य स्मृति में उल्लेख मिलता है कि वृक्षों और औषधियों को बिना प्रयोजन के काटने पर दण्ड का निश्चय किया गया है। कोपलों से युक्त डालों वाली वृक्षों की शाखा, तना या सम्पूर्ण वृक्ष काटने पर यदि वह वृक्ष मनुष्य के जीविका निर्वाह का साधन हो तो बीस, चालीस और अस्सी पण दण्ड लगता है। इसके अतिरिक्त धार्मिक स्थान, शमशान, सीमा, पवित्र स्थान और देवता के मंदिर में उत्पन्न हुए वृक्ष और पीपल, पलाश आदि के वृक्ष की शाखा काटने पर प्रथम दण्ड से दुगुना दण्ड देने की धारणा उपलब्ध है।[१३]

स्मृतियों में वृक्ष, वनस्पति की तरह पशु-पक्षी संरक्षण की धारणा का विवरण सुरक्षित है। मनुस्मृति में उल्लेख मिलता है कि भृगु महर्षियों से कहते हैं कि ज्ञान या अज्ञान से की गयी हिंसा से उत्पन्न सब पाप इन व्रतों से नष्ट होते हैं। बिल्ली, नेवला, नीलकण्ठ, मेढ़क, कुत्ता, गाय, उल्लू और कौआ इनमें से किसी को मारने वाले शूद्र हत्या के व्रत को करें। बिल्ली आदि को मारने वाला तीन रात दूध पिये या चार कोस गमन करे या नदी में स्नान करें अथवा वरुण देवता का जप करें।

संवर्तस्मृति में उल्लेख मिलता है कि वन में विचरण करने वाले सम्पूर्ण प्रजाति के मृगों को जो व्यक्ति मारता है वह अहोरात्र उपवास करें और जातवेद से मंत्र का जाप करें। हंस, कौआ, मोर, सारस, भास इनको जो मारता है वह तीन दिन उपवास करने से शुद्ध होता है।[१४] इसके अलावा मनुस्मृति में उल्लेख मिलता है कि हड्डी वाले जीवों को तथा बिना हड्डी वाले क्षुद्र जीवों को मारकर शूद्र हत्या व्रत करने का वर्णन उपलब्ध होता है।[१५] इस प्रकार अनेक प्रकार के पशु-पक्षी का वध करने पर दण्ड प्रायश्चित, दान करने की प्रबल धारणा स्मृतियों में उपलब्ध होती है।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि स्मृतियां हमें बताती हैं कि मानव का पर्यावरण से अटूट सम्बन्ध है। पर्यावरण का जैव-अजैव घटकों का कुल योग है जो प्राणियों और पौधों के साथ परस्पर क्रिया करते हैं तथा उनके जीवन को प्रभावित करते हैं। स्वच्छ पर्यावरण से मनुष्य को पूर्ण मानसिक और शारीरिक तृप्ति मिलती है। अतः हमें पर्यावरण के घटकों को सुरक्षित बनाये रखना है।

संदर्भ सूची :

१. संस्कृत शब्द कोश, पृ० ६१९
२. वही, पृ० ६३०
३. वही, पृ० ६१५-१६
४. वही, पृ० १७०
५. वही, पृ० ६७२
६. वही, पृ० ४७१
७. वही, पृ० ६४८
८. पर्यावरण और जीव, पृ० २६
९. अत्रि स्मृति, पृ० २२६
१०. मनुस्मृति- ३, पृ० ७६
११. वही- ५, पृ० १२४
१२. वही- ९, पृ० ४५-४७, २८२-८३
१३. याज्ञवल्क्य स्मृति, पृ० २२७-२८
१४. संवर्त स्मृति, पृ० १४५-४६
१५. मनुस्मृति- १०, पृ० १४०

***

मौर्योत्तर कालीन श्रेणी संगठन का परिचय

अंजना*

भगवानदीन**

प्राचीन भारतीय आर्थिक जीवन में श्रेणियों का विशेष महत्व था। जिस प्रकार राज्य एक संगठित संस्था थी, मंदिरों का अपना एक अलग संगठन था तथा शिक्षा की एक संगठित व्यवस्था थी उसी प्रकार औद्योगिक, व्यापारियों तथा व्यवसायियों की भी अपनी संगठित संस्थाएँ थीं जिन्हें श्रेणी कहा जाता था। किन्तु इस संगठन का स्वरूप आधुनिक व्यावसाकि संगठन-सा नहीं था क्योंकि तब बड़े पैमाने पर किसी पूँजीपति के अधीन उत्पादन नहीं होता था। प्राचीन काल में श्रेणियों का विकास लोकतान्त्रिक आधार पर हुआ था जिसने धीरे-धीरे अपना एक अलग एवं स्वतन्त्र संविधान बना लिया था।

मौर्योत्तर काल में व्यापार वाणिज्य की उन्नति के कारण श्रेणी संगठनों का महत्व बढ़ गयी थी, उनके कार्यों दायित्वों एवं अधिकारों में उल्लेखनीय वृद्धि हुई। ईसा की प्रथम दो शताब्दियों में भारत व रोम के मध्य व्यवसाय-इतिहास में नवीन अध्याय न था। बढते कापर व्यवसाय के कारण श्रेणियों की लम्बी सूची मिलती है। 'ए स्टडी ऑफ महावस्तु' ग्रन्थ में बसाक लिखते हैं कि विस्तृत श्रेणी सूची से तकनीक, आर्थिक उन्नति स्वतः परिलक्षित होती है[१] महावस्तु में शिल्प की प्रंशसा में लिखा है।

> शिल्पं लोके प्रशंसन्ति शिल्पं लोके अनुत्तरं।
> सुशिक्षिसेन वीणायां धनष्कन्धों में आहतो।।

अर्थात् लोक में शिल्प की प्रशंसा होती थी और उससे परमगति तथा अमितधन की प्राप्ति होती थी। व्यवसायों को जिन समूहों द्वारा क्रियान्वित किया जाता था। उसके लिए प्राचीन भारतीय-साहित्य एवं अभिलेखों में श्रेणी शब्द प्रयुक्त हुआ है। यदपि उसके समवाची- शष्ट गण, पूग, व्रात, संघ, देशी, साथी, निगम आदि भी प्रयुक्त होते रहे। श्रेणी का तात्पर्य एक ही व्यवसाय करने वाले किसी भी जाति के समुदाय से था।[१] अतएव श्रेणी की सदस्यता सभी जाति के लोगों के लिए समान थी। सर्वप्रथम याज्ञवल्क्य-स्मृति में उल्लेख आया है कि श्रेणी का प्रमुख श्रेणी मुख्य कहलाता था।[२]

श्रेणी के विविध कार्यों के सुधार एवं कुशल संचालन के लिए तथा श्रेणी प्रमुखों को सहयोग देने के उद्देश्य से इस काव्य में पहली बार कार्य चिन्तकों की समिति के गठन का प्रावधान किया गया था। याज्ञवल्क्य ने कार्य चिन्तकों की योग्यताओं, कर्तव्यों एवं अधिकारों पर प्रकाश डाला है। समूह के सम्बन्ध में कार्य चिन्तकों के अधिकार महत्वपूर्ण हैं। परन्तु लोभ, द्वेष या घृणा के वशीभूत होकर किसी को दण्ड दिया जाता था तब राजा को अधिकार था कि वह उन्हें ऐसा करने से रोके।[३]

* शोध छात्रा, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

** शोध छात्र, म०गां०चि०ग्रा०वि०वि० चित्रकूट, सतना, म०प्र०

मौर्योत्तर काल तक आते-आते श्रेणी संगठनों के अधिकार क्षेत्र में अधिक मात्रा में वृद्धि हुई। सामान्यतः इनके कार्य उत्पादन, प्रशिक्षण, सैन्य संगठन, सार्वजनिक निर्माण की ठेकेदारी, झगड़ों का निपटारा करना तथा राजकीय बैठकों में भाग लेना था। श्रेणियों की कोषाकार क्रिया भी इस काल में विकसित हुई थी। श्रेणियों का यह कार्य जो इस काल के अभिलेखों से स्पष्ट वर्णित है। श्रेणियों के गौरव एवं ईमानदारी पर लोगों पर विश्वास की पुष्टि करता है।

अभिलेखों में इन श्रेणियों के दान देने के अनेकानेक उल्लेख मिलते हैं। तथ्यहीन अभिलेखों से इनके पास अक्षौहिणी रजत का उल्लेख है। मथुरा से प्राप्त कनिष्क के राज्य काल के अट्ठारवें वर्ष (१०६ई०) के अभिलेखों में दो श्रेणियों को ११०० पुराणों की अक्षौहिणी दान का उल्लेख है।[४] शक संवत् (१२० ई०) के नासिक गुहालेख से हमें ज्ञात होता है कि शक क्षत्रप नरेश नहपान (११९-१२४ई०) के दामाद उपवदात ने गोवर्धन के जुलाहों की दो श्रेणियों में क्रमशः २००० कार्षापण (१ रुपये प्रति सैकड़ा प्रतिमान ब्याज की दर से) तथा १००० कार्षापण (३/४ रुपये प्रति सैकड़ा प्रति मास ब्याज की दर से) जमा करवाया था।[५] कोणाचिक की एक श्रेणी को केले तथा करंज के पेड़ लगाने के लिये दो खेतों की आय दी गयी थी।[६]

श्रेणी समाज में राज्य के अन्तर्गत छोटे राज्य के समान संस्था थी। श्रेणियों के असीमित अधिकारों की वजह से राजा भी उनके नियमों के विरुद्ध कोई कानून नहीं बना सकता था। राजा श्रेणियों के अध्ययनों का बहुत आदर करता था।[७] मनु ने इस प्रसंग में यह भी लिखा है कि श्रेणियों के साथ संविदा (इकरार) करके यदि कोई उसका पालन न करें तो उसे दण्ड दिया जाये और उस पर जुर्माना किया जाये।[८]

विभिन्न स्थानों से प्राप्त उत्पन्न सामग्री के आधार पर इन श्रेणियों की स्वतंत्र मुद्रा, मुहर, संप, मुद्राकण की पुष्टि होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि राज्य मुद्राओं के प्रचलित होने पर श्रेणियों ने इनका निर्माण बन्द कर दिया था। इस विषय की पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। वर्णनीय है कि इन मुद्रा, मुहर एवं मुद्रांकण का निर्माण व्यापारी वर्ग ने ही किया था, शिल्पी वर्ग ने नहीं। अतएव शिल्पियों की मुद्रादि का न मिलना प्रमाणित करता है कि शिल्पी वर्ग व्यापारी वर्ग के अधीन था।

श्रेणियों के संविधान की लोकतांत्रिक व्यवस्था शताब्दियों तक श्रेणी संगठन के अस्तित्व में रखने में सहायक हुई। श्रेणी समाज में राज्य के अन्तर्गत छोटे राज्य के समान संस्था थी। श्रेणियों के पूर्व सक्रिय होने से राज्य शासन को काफी सहायता मिली। वस्तुतः श्रेणियों ने आर्थिक व्यवस्था को सक्रिय एवं नियन्त्रित कर रखा था एवं विशिष्ट योगदान के फलस्वरूप वह अपरिहार्य राजनीतिक व सामाजिक संस्था के रूप में स्वीकृत थी। श्रेणी विषयक उक्त विवरण कतिपय विमृत हो गया है, परन्तु कुषाणकालीन आर्थिक उन्नति में श्रेणियों के योगदान को विचार कर सभी सन्दर्भों का प्रासंगिक महत्व जान पड़ा।

सन्दर्भ सूची :

१. जैन- बीनागिल्ड-आर्गनाइजेसन्स इन नार्थ इण्डिया, पृ० ४-६
२. बसाक- ए स्टडी ऑफ महावस्तु, पृ० ४१
३. बृहस्पति स्मृति, १७/८
४. अक्षौहिणी दत्ता- मथुरा स्टोन इंस्क्रिप्शन ऑफ कनिष्क, सरकार, डी०सी०, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृ० १५१-१५३, इपि, इण्डि, जिल्द-२१, पृ० ६०।
५. इपि, इण्डि, जिल्द-८, पृश्ठ-८१
६. मजूमदार, आर०सी०- प्राचीन भारत में संघटित जीवन (हिन्दी अनुवाद) पृ०-३५
७. रामायण २, ८३, १२-१३। (ये च तत्रावरे सभ्यता ये च नैगमः।)
८. मनुस्मृति- ८/२२१।

***

नयी कहानी आंदोलन और कमलेश्वर

अम्बे कुमारी*

भारतीय इतिहास में सन् १९४५ से १९५० तक का समय संक्रमण काल था। इस समय पूरा देश संक्रमण के दौर से गुजर रहा था। संक्रमण के इस दौर ने व्यापक परिवर्तन को जन्म दिया। परिवर्तन की यह भिन्नता प्रकृति के साथ विभिन्न स्वरूपों में भी थी– वह भिन्नता यह थी कि जिन स्वप्नों को सँजोकर आजादी की लड़ाई पूरे जोश और उत्साह के साथ लड़ी गयी थी वही सपने आजादी के बाद रेत के महलों की तरह बिखर गये। आजादी तो मिली लेकिन विभाजन के साथ और साथ में मिली–वैमनस्यता, आपसी कडुवाहट। स्वातंत्र्योत्तर भारत के इस नये और विकृत रूप को देखकर आस्थाएँ विखंडित हुईं, फलस्वरूप जन्म लिया मोहभंग ने। ''यह मोहभंग की स्थिति थी। एक ओर साहित्यिक स्तर पर कथा–साहित्य का रीतिकाल और सामूहिकतावाद अड़ा खड़ा था, जहाँ व्यक्तिगत कुंठाएँ जीवन यथार्थ को नकार रही थीं, या समूहगत प्रचारवाद व्यक्ति की सत्ता को दबोच रहा था..... दूसरी ओर राजनीतिक स्तर पर सड़ांध, वैमनस्य, गुटबाजी और अंधेरगर्दी थी और प्रशासनिक स्तर पर वास्तविक गुलाम पीढ़ी हावी थी.......।''[१]

वह 'त्यागी पीढ़ी' जो १४ अगस्त की रात के ग्यारह बजकर उनसठ मिनट तक बहुत संयमी, आदर्शवादी, स्पप्नदर्शी, सच्चरित्र और साधु थी, एक मिनट बाद ही स्वार्थलोलुप अत्याचारियों में बदल गयी। चारों तरफ एक नया राजनीतिक वर्ग पनपने लगा, जो जोंक की तरह जनता का रक्त चूसने लगा और अपने लिए सुविधाएँ बटोरने में लग गया। स्वार्थपरता, जातिवाद, भाई–भतीजावाद, काला–बाजारी, बेईमानी आदि का जो दौर चला उसने जनता को मोह–भंग की स्थिति में जबरदस्ती खड़ा कर दिया। ''विभाजन, मोहभंग, यांत्रिकता, विसंगतियाँ, परिवारों का विघटन, राजनीतिक भ्रष्टाचार और व्यापक असंतोष के बीच जो मनुष्य साँस ले रहा था, जिसका समकालीन साहित्य जवाबदेही से कतरा रहा था या जिसके आंतरिक और बाह्य संकट को अभिव्यक्ति नहीं दे पा रहा था, वह मनुष्य इतिहास के क्रम में अपने पूरे परिवेश को लिये–दिये एक अवरुद्ध राह पर संभ्रमित और चकित खड़ा था।''[२]

स्वतंत्रता के पश्चात् कहानी में एक नयी धारा चली जिसे आलोचकों ने नयी कहानी नाम से अभिहित किया। नयी कहानी ऐसा पहला आंदोलन है जिसने अपने समय के ज्यादातर कहानीकारों को प्रभावित किया। स्वतंत्रता पूर्व का आदर्शवादी जीवन स्वतंत्रता के पश्चात् कटु यथार्थ में परिणत हो गया। स्वातंत्र्योत्तर कहानीकार यथार्थ चिषण पर बल देने लगे। 'स्वातंत्र्योत्तर कहानी' में होरी की पीढ़ी धुँधली पड़ने लगती है और 'गोबर' जैसे लोग जिंदगी को वहन करने लगते हैं। 'गोदान' में जिस जिंदगी की आकांक्षा की आहट मिलती है, उसी के स्वर नयी कहानी में स्पष्ट हो जाते हैं।

कमलेश्वर नयी कहानी के चर्चित रचनाकारों में से एक हैं। कमलेश्वर ने राजेंद्र यादव और मोहन

---

* शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

राकेश के साथ मिलकर कहानी को नया अंदाज दिया जो कई दृष्टियों से पुरानी कहानी से भिन्न था– नयी कहानी यथार्थ और जीवन की वास्तविकताओं के अंकन के आधार पर अपने को पिछली कहानी से अलग करती है। वह आदर्शों और विचारों के आधार पर कहानी के गढ़े जाने का विरोध करती है। स्वातंत्र्योत्तर युग में आम आदमी की आकांक्षाओं, आशाओं को अपनी कहानी में स्थान देने वालों तथा तत्कालीन समाज की विशेषताओं, विसंगतियों, संवेदनाओं तथा वेदना को भोगे हुए यथार्थ के रूप में चित्रित करने वाले कहानीकारों में कमलेश्वर का नाम अग्रणी है। उनकी कहानियों में कस्बे, नगर तथा महानगरीय वातावरण का वास्तविक चित्रण दिखायी पड़ता है। कमलेश्वर अपनी कहानियों में ऐसे चरित्र उपस्थित करते हैं जो अपने परिवेश से तटस्थ होकर जीवन जीने के लिए अभिशप्त है। कमलेश्वर की कहानियों की मूल संवेदना कस्बों में उभरी है। कमलेश्वर स्वयं एक कस्बे से आए थे अत: उन्होंने व्यक्ति के कस्बे से महानगरों में आगमन और महानगर की भीड़ में उसके खो जाने को झेला था, उसे महसूस किया था। कमलेश्वर को गाँव और शहर के बीच कस्बे का कहानीकार घोषित किया गया था। यह शायद उनके प्रारंभिक कथा–संग्रहों राजा निरबंसिया और कस्बे का आदमी की अधिकांश कहानियों के परिवेश के कारण किया गया।

कमलेश्वर की कहानियों में नई कहानी की तमाम विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं। उनकी कहानियाँ न केवल महानगरीय बोध एवं कस्बाई जीवन को लिए हुए हैं, अपितु उनमें आधुनिकता बोध, अस्तित्ववाद के भी दर्शन होते हैं। स्वातंत्र्योत्तर काल की परिस्थितियों के कारण पारिवारिक जीवन मूल्यों में आए टूटन, बदलते संबंधों का चित्रण भी उनकी कहानियों में हुआ है। उनकी कहानियों में न केवल रोमानी बोध है, अपितु यथार्थ का कठोर चित्रण भी मिलता है। स्वतंत्रता के पश्चात् की परिस्थितियों से उभरी गहरी निराशा, अस्मिता संकट, राजनीतिक भ्रष्टाचार को भी उन्होंने अपनी कहानियों में स्थान दिया है। ''उनकी कहानियों में परिवर्तनबोध निहित है। उनकी कहानियाँ 'भाषा' और 'कथ्य' समाज के बदलते हुए भिन्न–भिन्न परिवेश की देन है। जब वह मैनपुरी जैसे कस्बे से इलाहाबाद में पहुँचा तब भी और जब इलाहाबाद जैसे शहर से निकलकर दिल्ली, बंबई जैसे महानगर में जा बसा तब भी आने और बसने के बीच वह निरंतर मानसिक रूप से अपने शिथिल परिवेश के प्रति सजग रहा। उनकी हर कहानी अनुभव से निकली है। जीवन की भाँति लेखक में भी युग की परस्पर विरोधी स्थितियों में सामंजस्य का एक नया, सही और सम्मानप्रद रास्ता खोजने की उनकी ललक दिखाई देती है।''[३]

'कस्बे का आदमी' कस्बाई पृष्ठभूमि पर लिखी कमलेश्वर की महत्वपूर्ण कहानी है। 'कस्बे का आदमी' कहानी का पाष 'छोटे महाराज' अपने से अधिक दूसरों की सोचता है। स्वार्थ की गंध इससे कोसों दूर है। त्याग में भी वे आनंद का अनुभव करते हैं। अपने–पराए मनुष्य–पशु पक्षियों को वे समान नजरिये से देखते हैं। कृषिमता और औपचारिकता नाम माष की भी नहीं है। उनके जीवन मूल्य महानगर या बड़े शहर से बिल्कुल निम्न है। कस्बे का आदमी कहीं भी और कभी भी मिलेगा कई साल का अंतराल हो उनके प्यार में किसी प्रकार की दरार उत्पन्न नहीं होती। सभी लोग तन–मन से गाँव की सारी समस्याएँ सुलझाने की कोशिश करते दिखते हैं। 'गाय की चोरी', 'देवा की माँ', 'धूल उड़ जाती है', 'नीली झील', 'गर्मियों के दिन' आदि कहानियों में कस्बाई जीवन का चित्रण देखने को मिलता है। ''कहानीकार कमलेश्वर न अतीत की गरिमा का चित्रण करते हैं न ही भविष्य की सुनहरी योजनाओं की चर्चा। उनकी कहानियाँ विकट वर्तमान के जीवित संदर्भों को प्रस्तुत करती हैं या कहें उनकी कहानियों में 'यथार्थ चित्रण' जगह–जगह मिलता है।''[४] कमलेश्वर की कहानी 'खोयी हुई दिशाएँ' महानगरीय वातावरण को प्रस्तुत करती है तथा 'दिल्ली में एक मौत' महानगरों में घुस आयी अमानवीयता को प्रकट करती है। 'खोई हुई

दिशाएँ' कहानी में औद्योगीकरण एवं नगरीकरण के फलस्वरूप मनुष्य की अस्मिता के खोने का चित्रण है। महानगरीय जीवन एक ऐसे फ्रेम में ढल गया है जहाँ अपनी पत्नी, पत्नी नहीं; प्रेयसी प्रेयसी नहीं और मैं, मैं, नहीं रह जाते; सभी अस्तित्त्वहीन हो गये हैं।

'पराया शहर' कहानी में उन्होंने बिखरते आत्मीय संबंधों का चित्रण किया है। कमलेश्वर ने अपनी कहानियों में विस्तृत परिवेश को समेटने के साथ ही भय, संत्रास, मृत्यु और अस्तित्त्व के संकट का बड़ा ही सफल विश्लेषण किया है। 'मांस का दरिया' कहानी जहाँ एक ओर संवेदनहीन होते जा रहे समाज का चेहरा सामने लाती है। वहीं लाचारी के कारण समझौते करने वाली बेबस विवाहिता जुगनूँ की व्यथा भी प्रस्तुत करती है। स्वातंत्र्योत्तर भारत में राजनीति का भी पतन हुआ। प्राचीन काल में जहाँ 'प्राण जाय पर वचन न जायी' जीवन का आदर्श था वहीं अब राजनीति में झूठे वादों का बोलबाला हो गया। नये और पुराने प्रतिमान दो विपरीत ध्रुवों पर प्रतिष्ठित हो गये। 'लाश' कहानी में कमलेश्वर ने राजनीतिक अव्यवस्था, जुलूस, हड़ताल, आगजनी आदि का चित्रण किया है। राजनीतिक अव्यवस्था ने समस्त मानवीय मूल्यों की हत्या कर दी पर राजनीति से संबद्ध कोई भी व्यक्ति इस दिशा में सोचने को तैयार नहीं। कहानी में प्रजातंत्र की हत्या का चित्रण बड़े ही सशक्त एवं प्रतीकात्मक ढंग से किया गया है– ''सारा शहर सन्न रह गया था। गनीमत थी कि इतने बड़े होटल में सिर्फ एक लाश गिरी थी, वह लाश भी बिल्कुल शामिल थी। उसके न गोली लगी थी, न वह कहीं से घायल थी।''[५] कमलेश्वर की कहानियोंकार की विशेषता यह है कि मध्यवर्ग से जीवन–स्थिति और पात्रों को उठाते हुए भी मध्यवर्गीय कुंठा के शिकार उनके पात्र या चरित्र नहीं हैं। उसके पात्रों की मनोदशा के पीछे सामाजिक मनोदशा भी दिखायी पड़ती है। एक प्रकार से व्यक्ति और समाज को अथवा वैयक्तिकता और सामाजिकता का सामंजस्य करने की कोशिश दिखायी पड़ती है। कमलेश्वर की कहानियों में चरित्रों की विविधता है, तो कथ्य की भी उतनी विविधता दिखाई देती हैं। कहानी नगर की हो या कस्बे की, यौनवृत्ति की हो या सूक्ष्म सौंदर्य बोध की, शहरी जीवन के खोखलेपन की हो या भावुक संवेदनशील व्यक्ति की। इसी कारण इस प्रतिभासंपन्न कहानीकार की कहानियों में कथ्य, चरित्रों और शिल्प और भाषा का अद्‍भुत समन्वय हुआ है। कमलेश्वर की कहानियाँ शैली की दृष्टि से सीधी और सहज हैं। मूलतः कमलेश्वर की कहानियाँ अनुभव को गहराई से व्यक्त करती हैं। नये कहानीकारों ने 'आत्मकथात्मक', 'चरित्रात्मक' शैली का प्रयोग न करते हुए अपनी कहानियों में संश्लिष्ट शिल्प की भाँति संश्लिष्ट शैली का भी प्रयोग किया है। कहानियाँ संकेत, बिम्ब व प्रतीकों पर टिक गई है। कमलेश्वर की अधिक कहानियाँ 'विलीन शैली' के अंतर्गत आती हैं। एक ही कहानी में 'संलाप', 'रेखाचित्र', 'लोककथा' आदि का मिश्रण मिलता है।

इस प्रकार स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी को नई दिशा और दृष्टि दोनों कमलेश्वर की कहानियों से प्राप्त हुए हैं। सामयिक जीवन के भोगे हुए यथार्थ की अभिव्यक्ति इन कहानियों में हुई है। इनकी हर रचना एक नई अभिव्यक्ति है। कमलेश्वर की प्रत्येक कहानी एक नया 'अनुभव' है। हिन्दी कहानी के प्रबुद्ध हस्ताक्षर कमलेश्वर ने गहन और व्यापक सामाजिक बोध युक्त कहानियाँ दी हैं क्योंकि सामाजिक सोद्देश्यता उनकी कहानियों का मूल आधार है।

संदर्भ सूची :

(१.) कमलेश्वर–नई कहानी की भूमिका, पृ० १४, (२.) वही, पृ० १४, (३.) त्रिवेदी, डॉ० वीणा– कमलेश्वर का रचना– संसार, पृ० ८२, (४.) वही, पृ० ८९, (५.) कमलेश्वर– समग्र कहानियाँ, पृ० ५९३

***

रामायण में वर्णित सागर

सुशील कुमार पाण्डेय*
पुष्पेन्द्र कुमार मिश्र**

भूगोल वह प्राकृतिक थाल्हा है, जिसमें एक विशेष प्रकार की संस्कृति, एक विशेष काल में, अंकुरित-विकसित पुष्पित और फलवती होती है। कवि अथवा कलाकार कथ्य का वर्णन अथवा पात्रों का चरित्र चित्रण, एक विशेष देश-काल, परिस्थिति के अन्तर्गत ही करते हैं। काल का सम्बन्ध तो सांस्कृतिक वातावरण से है, जो पुरुष या समाज निर्मित है तथा देश का सम्बन्ध भूगोल से है, जो प्रकृति निर्मित है। इस प्रकार प्रकृति और पुरुष की सह-क्रीड़ा, भूगोल और संस्कृति का घनिष्ठ सम्बन्ध जोड़ देती है। एक विशेष प्रकार की संस्कृति का विकास, एक विशेष प्रकार की भौगोलिक परिस्थिति में होता है। अतएव वाल्मीकीय रामायण में वर्णित भौगोलिक परिवेश के अन्तर्गत अनेक नदियाँ, वन, पर्वत, नगर, जनपद, पुर एवं सागर एवं सरोवरों का वर्णन मिलता है। जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि महर्षि वाल्मीकि का भौगोलिक ज्ञान अत्यन्त व्यापक था। वाल्मीकीय रामायण में समुद्र के लिए सागर शब्द प्रयोग किया गया है। नि:संदेह वाल्मीकीय रामायण में अनेक सागरों का वर्णन मिलता है।

इक्षुसागर- रामायण के अनुसार किष्किन्धा के पूर्व दिशा में 'इक्षुसागर'[१] विद्यमान था, जो अपनी बड़ी-बड़ी तरंगों द्वारा सदैव घोर गर्जन करता रहता था। सुग्रीव के अनुसार उस महासागर में भयानक राक्षसगण निवास करते थे, जो वहाँ पहुँचने वालों की छाया पकड़ लेते थे। इस कार्य के लिए उन्हें ब्रह्मा जी की आज्ञा मिली हुई थी। क्योंकि वे बहुत समय से भूखे थे। अत: सुग्रीव समस्त वानरों को आज्ञा देते हैं कि वे कालमेघ के समान बड़े-बड़े सर्पों से युक्त और गर्जन करने वाले उस महासमुद्र के समीप सीता की खोज के लिए अवश्य जाएँ। यथा-

ततः समुद्रद्वीपांश्च सुभीमान् द्रष्टुमर्हथ। उर्मिमन्त्रं महारौद्रं क्रोशन्तमनिलोद्धतम्।।

तत्रासुरा महाकायाश्छायां गृहणन्ति नित्यशः। ब्रह्मणा समनुज्ञाता दीर्घकालं बुभुक्षिताः।।

लोहित सागर- इस सागर का रंग लाल था। जो किष्किन्धा के पूर्व दिशा में स्थित था। रामायण में सुग्रीव के कथनानुसार वहाँ भयानक क्रूरकर्मी राक्षसगण निवास करते थे, जो सूर्योदय के समय जल में कूद जाते थे और सूर्य की गर्मी से पुन: तट पर स्थित पर्वतों पर लटक जाते थे। आज इस सागर की पहचान उत्तरी पूर्वी चीन में स्थित 'पीत सागर' से की जाती है। यथा-

* शोधछात्र, इतिहास विभाग, ज०रा०वि०वि०, चित्रकूट (उ०प्र०)
** शोधछात्र, संस्कृत विभाग, ज०रा०वि०वि०, चित्रकूट (उ०प्र०)

ततो रक्तजलं भीमं लोहितं नाम सागरम्। गत्वा प्रेक्ष्यथ तां चैव बृहतीं कूटशाल्मलीम्।।[२]

पश्चिमी समुद्र– पश्चिम दिशा में विस्तृत और विशाल समुद्र विद्यमान था, जिसे महर्षि वाल्मीकि ने 'पश्चिमीसमुद्र'[३] कह कर उल्लेख किया है। यह समुद्र तिमि और मगर से आपूर्ण था, इसके किनारे अनेक पर्वत विद्यमान थे। समुद्र के चतुर्थांश में चक्रवान नामक पर्वत विद्यमान था। अतः वानरराज सुग्रीव समस्त वानरों को समुद्र एवं समुद्र के तटवर्ती प्रदेश में सीता की खोज करने का आदेश देते हैं। यह आधुनिक अरब सागर है। यथा–

ततः पश्चिममागम्य समुद्रं द्रष्टुमर्हथ। तिमिनक्राकुलजलं गत्वा द्रक्ष्यथ वानराः।।[३]

क्षीरोद सागर– किष्किन्धा के पूर्वदिशा में ही लोहित सागर से आगे श्वेत मेघ के सदृश 'क्षीरोदसागर'[४] स्थित था। जो देखने में अति रमणीय था। इस सागर के मध्य ऋषभ नामक एक श्वेत पर्वत था, जिस पर स्थिति सुदर्शन नामक सरोवर रजत कमल से आपूर्ण था। आधुनिक सन्दर्भ में इसे हम आर्कटिक सागर कह सकते हैं, जो उत्तरी ध्रुव के निकट भाग में स्थित है। वाल्मीकीय रामायण में इसे 'श्वेत सागर' भी कहा गया है। यथा– ततः पाण्डुरमेघाभं क्षीरोदं नाम सागरम्।।[४]

जलोद सागर– किष्किन्धा के पूर्व में भयानक 'जलोद सागर' स्थित था। रामायण के अनुसार इसी समुद्र में औैर्ब ऋषि के तेज से उत्पन्न वाडवामुख नामक महान तेज था। सुग्रीव के मतानुसार प्रलयकाल उपस्थित होने पर वाङ्वामुख के अद्‌भुत तेज ने चराचर जगत् को उदरस्थ कर लिया था तथा उस वाडवामुख को देखकर सभी समर्थ-असमर्थ समुद्रवाली प्राणी विकल होकर विलाप करने लगे थे। आधुनिक युग में 'बेरिंगसागर' का प्राचीन नाम 'जलोद सागर'[५] था जो साइबेरिया के उत्तर पूर्व में विद्यमान है। यथा–

जलोदं सागरं शीघ्र सर्वभूतभयावहम्। तत्र तत्कोपजं तेजः कृतं हयमुखं महत्।।

दक्षिणी समुद्र– किष्किन्धा के दक्षिण दिशा में वाल्मीकि ने सौ योजन विस्तृत समुद्र का वर्णन किया है, किन्तु उसके नाम का उल्लेख कहीं नहीं किया है। उसे केवल 'दक्षिणी समुद्र'[६] कहकर संबोधित किया है। उस महासमुद्र के मध्य महेन्द्र नाम का पर्वत स्थित था। इस विशाल समुद्र के मध्य अंगारिका नामक राक्षसी रहती थी, जो आकाश में उड़ने वाले प्राणियों की छाया पकड़ कर खा जाती थी। इस समुद्र के उस पार एक विस्तृत द्वीप विद्यमान था, जो रावण की पुरी थी। दक्षिण का यह समुद्र निश्चय ही आधुनिक समय में दक्षिण दिशा में रामेश्वरम् के समीप स्थित समुद्र है, जिसके उस पार लंका विद्यमान है, जो रावण की राजधानी कहलाती थी। यथा–

दक्षिणस्य समुद्रस्य मध्ये तस्य तु राक्षसी। अंगारकेति विख्याता छायामाक्षिप्य भोजिनी।।[६]

इस प्रकार भारतीय संस्कृति के आकर ग्रंथ रामायण में महर्षि वाल्मीकि ने प्रकृति के नाना उपादानों पर्वत, पठार, नदी, सरोवर, सागर, वन, वृक्ष, लता, पुष्प आदि का मनोरम वर्णन किया है। इसलिए हम वाल्मीकि को प्रकृति प्रेमी प्रथम राष्ट्रीय महाकवि कह सकते हैं।

सन्दर्भ सूची :

१. वा०रा० ४/४०/३६-३७
२. वा०रा० ४/४०/३९
३. वा०रा० ४/४२/२०
४. वा०रा० ४/४०/४३
५. वा०रा० ४/४०/४८
६. वा०रा० ४/४०/४८

***

वैश्वीकृत युग में गाँवों का सामाजिक रूपान्तरण

डॉ० विनोद शंकर सिंह*

वर्तमान अध्ययन चित्रकूट के आस-पास के क्षेत्रों में ग्रामीण समुदाय में हो रहे निरन्तर परिवर्तनों पर आधारित है। वर्तमान अध्ययन में यह देखने का प्रयास किया गया है कि ग्रामीण समुदाय पर वैश्वीकरण का क्या प्रभाव पड़ा है एवं गांव का सामाजिक रूपान्तरण किस प्रकार हो रहा है।

ग्रामीण क्षेत्रों में सामाजिक रूपान्तरण की प्रक्रिया बड़ी तेजी से हो रही है, सामाजिक रूपान्तरण गाँव में हरित क्रांन्ति के होने के कारण आया क्योंकि यह अब तक किसानों के लिए सबसे बडी क्रांन्ति थी, इसका नेतृत्व उत्तर-भारत में जाटों, कुर्मियों और यादव ने गुजरात में कुनवियों, पटेलों तथा पट्टीदारों ने, महाराष्ट्र में मराठों ने, आन्ध्र-प्रदेश मे रेड्डियों तथा राजुओं ने, तमिलनाडु में वन्नियारों और नडारों आदि ने किया। सामाजिक दृष्टि से हरित क्रान्ति मूलतः मध्यमवर्गीय किसानों की देन है जिनका पारम्परिक रूप से भूमि से बहुत जुड़ाव रहा है और कृषि कार्य को अजीविका की एक जीवन्त पद्धति मानने की एक सहज प्रवृत्ति उनमें दिखाई देती थी। ग्रामों में अब प्रौद्योगिकी सामाजिक सम्बन्ध एवं संस्कृति के बीच एक नई अन्तः क्रिया आरम्भ हो गयी है। इसके परिणाम-स्वरूप सामाजिक गतिशीलत, नई शक्ति संरचना का उदय और दलित-वंचित वर्गों के शोषण, उत्पीड़न के रूप में दृष्टिगोचर है और इसने नये अन्तर्विरोधों को जन्म दिया है, जिसके फलस्वरूप भारतीय ग्रामीणों में एक नई समझ उत्पन्न हुई है। वह धन को पूँजी बनाने के लिए नये-नये उद्योग लगाने लगे हैं परन्तु दूसरी ओर शहरीकरण को बढ़ावा मिला है। गाँव के लोग अधिक धन कमाने के लिए नगर की तरफ पलायन करने लगे हैं। स्त्रियों की दशा में सुधार देखने को मिल रहा है। महिलाएँ अब पंचायत के चुनाव में पुरुषों की भागींदार बनने लगीं हैं। गाँव की लड़कियाँ भी सरकार द्वारा चलाये जा रहे विभिन्न शैक्षिक एवं कल्याणात्मक कार्यक्रमों से लाभान्वित होकर आगे बढ़ रही हैं। यह सामाजिक रूपान्तरण के सकारात्मक पक्ष हैं। वही सामाजिक रूपान्तरण के कुछ नकारात्मक पहलू भी दिखे, जिसमें शहरों में आधुनिकता के कारण सामाजिक सम्बन्ध कमजोर हो गये हैं तथा नातेदारी व्यवस्था लगभग खत्म हो गयी है। यही दशा अब गाँवों में देखने को मिल रही है। गाँवों में भी सामाजिक सम्बन्ध व नातेदारी व्यवस्था धीरे-धीरे कमजोर होने लगी है तथा पारिवारिक सम्बन्ध टूटकर बिखरतें दिखाई दे रहे हैं। क्योंकि कृषि घाटे का सौदा दिखाई दे रही है लोग अपने पारम्परिक धन्धों को छोड़कर शहर के बड़े कल-कारखानों में मजदूरी कर रहे हैं। गाँव में सामाजिक रूपान्तरण का दुष्परिणाम दिखाई दे रहे हैं। नई कृषि प्रणाली के अन्तर्गत किसानों के लिए बैंकों, राजस्व अधिकारियों, पुलिस प्रशासन, बाजार व्यवस्था से सम्बद्ध निकायों और प्रखण्ड विकास प्रशासन के साथ सम्पर्क कायम करने की दृष्टि

* एसोसिएट प्रोफेसर (समाजकार्य), महात्मा गांधी चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय, चित्रकूट, सतना, म० प्र०

से कौशल प्राप्त करना आवश्यक है। किसानों की अपेक्षाकृत अधिक पुरानी पीढ़ी द्वारा सुविधाप्रद तरीके से ऐसा करवाना सम्भव लगता है। लोगों की मूल्य-व्यवस्था और विचारधारा में परिवर्तन इसी तरह की एक प्रक्रिया है जो स्थानीय जातिवाद और सम्प्रादयवाद की प्रवृत्तियों को उभारती तथा प्रोत्साहित करती है। इसके परिणामस्वरूप कृषक वर्गों तथा ग्रामीण-निर्धनों के बीच आपसी संघर्ष तथा शोषण पर आधारित सम्बन्ध कायम हो गये। इसका परिणाम काम, परिस्थिति और महिलाओं की भूमिका से सम्बन्धित नकारात्मक धारणाओं के रूप भी सामने आया।

गिडेन्स के अनुसार- ''वैश्वीकरण वह प्रक्रिया है जो आधुनिकता से जुड़ी संस्थाओं को सार्वभौमिक दिशा की ओर रूपान्तरित करती है। एक विश्वव्यापी व्यापार विधा के रूप में वैश्वीकरण यद्यपि एक नवीन अधिगम है किन्तु इसकी जड़े द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के पाँच दशको में निहित है। १९६० के दशक को समाज वैज्ञानिकों और नीति-नियोजकों ने वृद्धिकाल के रूप में देखा। १९७० को आधुनिकीकरण १९८०के दशक को सामाजिक रूपान्तरण और अन्ततः इस दशक के उत्तरार्द्ध अर्थात् २० वीं सदी के समापन के दौर में उदारीकरण और निजीकरण पर विशेष बल देते हुए वैश्वीकरण का उद्घोष किया। वैश्वीकरण को अग्रसित करने वाले प्रमुख प्रेरक तत्वों में है-(अ) बाजार की खोज (ब) बहुराष्ट्रीय विनिवेश (स) प्रौद्योगिकी, इलेक्ट्रानिक के नए उपकरण और कम्प्यूटर से जुडा विश्व सूचना संकुल। विकसित देश अपने उत्पादनों की बिक्री हेतु त्वरित बाजार क्षेत्र की आवश्यकता से व्याकुल है। पश्चिम के इन राष्ट्रों के लिए विकासशील देश जैसे- लैटिन, अमेरिका, अफ्रीका और एशिया के देश विकल्प बाजार के क्षेत्र के रूप में दिख रहे है। विकासशील देश तकनीकी, इलेक्ट्रानिक साम्राज्यवाद के इच्छुक नहीं है। समाजवादी एवं कल्याणकारी राज्यों से जुडे सामाजिक न्याय के सिद्धान्त को वैश्वीकरण के कार्यक्रम में कोई स्थान नहीं है। तकनीकी इलेक्ट्रानिक उपकरणों एवं संसाधनों जैसे कम्प्यूटर, ई-मेल, इन्टरनेट आदि की सुलभता समान रूप से एवं यथापेक्षित सभी विश्व राष्ट्रों को सुलभ नहीं है। भारत में स्वतन्त्रता के बाद से अब तक अनेक बड़े-बड़े परिवर्तन हुए हैं, इन परिवर्तनों के फलस्वरूप आज हमारा सामना बहुत-सी ऐसी चुनौतियों तथा नए-नए अवसरों से हो रहा है।भारतीय समाज में सामाजिक परिवर्तन की गति अभी भी धीमी है। इसी गति के कारण भारत, अमेरिका, यूरोप एवं जापान जैसे एशिया के देशों से काफी पिछड़ा हुआ है। परिवर्तन की गति पिछलें कुछ दशकों से तेज हुई है और इसी के परिणामस्वरूप समकालीन भारतीय समाज के लगभग सभी प्रतिमान परिवर्तन के दौर से गुजर रहे हैं। प्रमुख समाजशास्त्रीय मेकाइवर का कहना है कि ''सामाजिक सम्बन्धों में होने वाले परिवर्तन को ही हम सामाजिक परिवर्तन मानने लगे हैं जबकि जॉनसन का तर्क है कि मूल अर्थों में सामाजिक परिवर्तन का अर्थ संरचनात्मक परिवर्तन से है।

ग्रामीण उद्योगों का मशीनीकरण हो रहा है। रेडियो, टी०वी० और वीडियो वैन के माध्यम से ग्रामवासियों को नवीन व आधुनिक तकनीकी तथा विचारों से परिचित कराया जा रहा है और आवागमन के साधनों को बढ़ाकर उन्हें अन्य लोगों के सम्पर्क में लाने व उससे लाभ उठाने के अवसर प्रदान किए जा रहे हैं। इस कार्य में स्वैच्छिक संगठनों की भूमिका भी बहुत बढ़ गयी है। भारतीय गाँवों में सामाजिक गतिशीलता की गति भी अब पहले से बढ़ गयी है। उनके रहन-सहन का स्तर पहले से ऊँचा उठा है और जाति-व्यवस्था व धर्म-सम्बन्धी अनेक अन्ध-विश्वासों के प्रति सचेत होते जा रहे हैं। केवल आधुनिक विचारों को ही नहीं; अपितु आधुनिक व्यवहार, प्रतिमानों, खान-पान के ढंग, फैशन आदि का भी विस्तार ग्रामीण समुदायों को भी लपेट में ले रही है। गाँव में राजनीतिकरण की प्रक्रिया ने पंचायती राज की

संस्थाओं से और भी गतिशील हो गई है। परिवार का पारम्परिक ढाँचें का आधार प्रभावित हुआ है, उसने परिवार में समानता के सिद्धान्त को लागू किया है, जिसमें महिलाओं की स्थिति सुधरी है। इसी प्रकार जातियों को भी परम्परात्मक भूमिका में काफी बदलाव आया है। दलितों में नई चेतना जागी है। राजनीति में जनजातियों की बढ़ती भागीदारी भारतीय समाज में बढ़ते आधुनिकीकरण का परिणाम है। आधुनिक समाज में सबको समानता का अधिकार प्राप्त है, साथ ही भूमि सुधारों के परिणाम-स्वरूप कृषि सम्बन्धी सामाजिक संरचना में भी संरचनात्मक सुधार हुआ है। दूसरी तरफ वैश्वीकरण युग में विसंगतियाँ भी दृष्टिगत हो रही है, जैसे- संयुक्त परिवारों का टूटना व वृद्धों के प्रति अनादर की भावना का बढ़ना, नैतिकता का पतन प्रायः देखने में आ रहा है। समाज में भौतिकवाद तथा विलासिता बढ़ रही है तथा व्यक्तिवाद पनप रहा है। वैश्वीकृत युग की बात करें तो यह एक विश्वव्यापी व्यापार की विधा के रूप में सामने आया है। वैश्वीकरण यद्यपि एक नवीन अभियान है किन्तु इसकी जड़े द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद पाँच दशकों में निहित है।

पंचायती राज में प्रारम्भ से नीच जातियों, विशेषकर हरिजनों को जिनके लिए गॉव से लगाकर संघीय संसद तक सभी निर्वाचित संस्थाओं में स्थान सुरक्षित है, इससे उनकी शक्ति व आत्म-सम्मान बढ़ी है। इन परिवर्तनों से उन गाँवों में जहाँ हरिजन बहुसंख्यक में मौजूद हैं वह स्थानीय शक्ति का पलड़ा किसी न किसी दिशा में झुका सकते हैं। पारम्परिक व्यवस्था में किसी ऊँची जाति के थोड़े से लोगों का यदि कृषि योग्यभूमि के बड़े अंश पर स्वामित्व हो और उन्हें उच्च कर्मकांडीय स्थान भी प्राप्त हो, तो वे सारे गाँव पर अधिकार चला सकते हैं किन्तु अब ग्रामीण भारत के बहुत से भागों में सत्ता संख्या की दृष्टि से बड़ी भूस्वामी किसान जातियों के हाथों में पहुँच गयी है और कुछ ऐसे गाँवों को छोड़कर जहाँ हरिजन बहुसंख्यक हैं और अपने लिए उपलब्ध शिक्षा के तथा अन्य नये अवसरों का लाभ भी उठा रहे हैं। नवीनतम परिवर्तन यह देखने में आया है कि जो जातियाँ पुश्तैनी धन्धे करती थीं, (जैसे- कम कुम्हार बर्तन बनाने का काम, मोची जूता बनाने का काम आदि) इन्होंने अपने कार्यों को छोड़कर मजदूरी और कृषि कार्य करना शुरू कर दिये हैं।

जीवन के सभी क्षेत्रों में विकास का पहिया तेजी से चला है, इसके बावजूद चित्रकूट क्षेत्र के गाँव में अभी भी छुआछूत जोरों पर है लगभग ७० प्रतिशत ग्रामीण व्यक्ति भूत-प्रेत पर विश्वास करते हैं। सभी वर्गों के लोग एक साथ बैठकर भोजन नहीं कर सकते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में विवाह एवं अन्य अवसरों पर जहाँ जमींन पर बैठकर खाने-पीने की व्यवस्था है वहाँ पर पत्तल उठाने का कार्य बारी करते थे लेकिन अब लगभग इसमें ५० प्रतिशत की कमी आई। जहाँ पर बारी पत्तल नहीं उठाते हैं वहाँ पर सम्बन्धित परिवार व नातेदारी के लोग मिलकर स्वयं पत्तल उठाकर रखते हैं। जिन ग्रामीण क्षेत्रों में लोग पत्तल स्वयं नहीं उठाना चाहते हैं वहाँ अन्य लोगों को जो मजदूरी के लिए उच्छुक हैं उनसे यह कार्य करवा लेते हैं। गाँव में पहले घरों में वैवाहिक अवसरों पर या अन्य त्योहारों पर पानी भरने का कार्य कहार करते थे लेकिन युवा पीढ़ी शिक्षित होकर इन कार्यों से अलग होना चाहती हैं। उनके अन्दर जागरूकता आ चुकी है। वे पानी भरने को हेय दृष्टि से देखते हैं क्योंकि वहाँ पर भी अब व्यावसायिक गतिशीलता आ चुकी है। यह पढने में रुचि लेने लगे हैं। नगरीय क्षेत्रों की भाँति ग्रामीण क्षेत्रों में संचार क्रान्ति ने अपनी भूमिका निर्वाह किया है। मोबाइल क्रान्ति ने ग्रामीण क्षेत्र के युवाओं को भी प्रभावित किया है। ग्रामीण युवा भी शादी के पूर्व अपनी पसन्द की लड़कियों से संवाद कायम कर अपनी इच्छा एवं योग्यता के अनुरूप कन्या का चुनाव करने लगे

हैं। मोबाइल क्रान्ति ने वैवाहिक मामलों में अभिभावकों की भूमिका को न्यूनतम कर दिया है। एक प्रकार से युवक अधिकांश मामलों में स्वतः निर्णय लेने लगे है। विवाह सम्बन्धी मामलों में अधिकांश अभिभावकों की भूमिका समर्थन देने भर की रह जाती हैं। लेकिन वर्गों में अभी भी जाति कट्टरता विद्यमान है। कुछ जातियाँ इतनी कठोर हैं कि यदि लड़की स्वयं विवाह कर लिया या परिवार की मर्जी के बिना शादी किया तो उसे प्रतिष्ठा का विषय बनाकर या तो लड़की की जान ले लेते हैं या लड़की-लड़का की हत्या कर देते हैं। इस प्रकार की घटनाएँ दोनों वर्गों उच्च एवं निम्न में व्याप्त है। ऐसा नहीं कहा जा सकता है कि इस प्रकार की घटनाएँ केवल एक वर्ग में घट रही हैं। चित्रकूट के राजापुर में एक घटना में निषाद परिवार की एक लड़की अपनी मर्जी से निषाद परिवार के लड़के से शादी कर लिया, इस विवाह में परिवार की सहमति नहीं थी। अतः शादी के कुछ दिनों बाद जब लड़का अपनी पत्नी के साथ अपने ससुर से मिलने आया तो लड़के के ससुर ने अपने दामाद की हत्या कर दी और अपनी लड़की के दोनों पैर तोड़ दिये। इस प्रकार की कट्टरता अभी भी समाज में व्याप्त है।

पहले कन्या पक्ष के लोग कन्यादान के बाद लड़की के यहाँ जाने पर भोजन नहीं करते थे या लड़की को जब एक बच्चा पैदा हो जाता था तब वहाँ भोजन करते थे लेकिन वैश्वीकरण के युग में नयी पीढ़ी को खाने में कोई परहेज नहीं है। अब आवागमन के साधनों के विकसित होने से लोगों का आवागमन बढ़ा है। लोगों कहा कहना है कि कब तक बिना खाये पिये रहा जा सकता है। अब ऐसे विचारों को छोड़ देना ही उचित है। दहेज सम्बन्धी मामलों में शिक्षा का प्रभाव कम है, शिक्षित लोग भी दहेजरूपी लालच से वंचित नहीं है। वैसे भी बुन्देलखण्ड क्षेत्र में दिखावा पर्याप्त मात्रा में है। पहले तो जागरूकता का अभाव एवं स्वास्थ्य सुविधाओं की कमी के कारण गाँव में ही घर पर दाइयाँ बच्चा पैदा कराती थीं लेकिन राष्ट्रीय जननी सुरक्षा कार्यक्रम के आ जाने से अधिकांश महिलाएँ पैसे के लालच में ही सही स्वास्थ्य केन्द्रों में पहुँचने लगी हैं। आय बढ़ने के साथ यहाँ के गाँव में नशा का स्वरूप बदला है। जहाँ लोग पहले गाँजा, भाँग, बीड़ी, तम्बाकू का प्रयोग अधिक करते थे। वहीं अब गाँव में शराब एवं गुटखा का प्रचलन बढ़ा है। बुन्देलखण्ड के गाँव में अभी भी सुपाड़ी खाने का रिवाज है। प्रायः ग्रामीण क्षेत्रों में सभी के पास सुपाड़ी की झोली एवं सरौता रखने का रिवाज है। यहाँ सम्मान के रूप में सुपाड़ी प्रस्तुत की जाती है जबकि महाराष्ट्र के बड़े नगरों में किसी की हत्या करने के लिए सुपाड़ी दी जाती है। ग्रामीण क्षेत्रों में पलायन को रोकने एवं लोगों में आजीविका उपलब्ध कराने हेतु महात्मा गाँधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारन्टी योजना लागू की गयी थी, लेकिन इसके बावजूद लोग पलायन को मजबूर हैं। क्योंकि मनरेगा योजना में श्रमिकों की मजदूरी विलम्ब से दी जाती है। अतः श्रमिक इसमें कार्य करना नहीं चाहता है।

सन्दर्भ सूची :

१. जैन, शोभिता- भारत में परिवार , विवाह, नातेदारी,

२. श्रीनिवास, एम० एन०- आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन,

३. देसाई, ए० आर ०- भारतीय ग्रामीण - समाजशास्त्र,

४. दुबे, श्यामाचरण- विकास का समाजशास्त्र,

५. अग्रवाल, जी० के०- सामाजिक नियंत्रण एवं परिवर्तन,

६. कापाड़िया, के० एम०- भारत में विवाह एवं परिवार,

७. भादुड़ी, अमित- प्रतिष्ठापूर्ण विकाश,

८. पाण्डेय, रविप्रकाश- वैश्वीकरण एवं समाज।

***

अद्वैतवेदान्त एवं वल्लभदर्शन : तुलनात्मक विवेचन

सीमा द्विवेदी*

शंकर अद्वैतवाद की प्रतिक्रिया होने पर भी वल्लभाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्त शुद्धाद्वैतवाद एवं शंकराचार्य के अद्वैतवाद में समताएँ एवं विषमताएँ दोनों ही मिलती है। जहाँ तक शंकर अद्वैतवाद एवं वाल्लभ शुद्धाद्वैतवाद की समताओं का प्रश्न है, दोनों में ही दार्शनिक सिद्धान्तों के अनुसार अद्वैतवाद का समर्थन किया गया है। शंकर अद्वैतवाद के अनुसार यदि सजातीय-विजातीय भेद से रहित एवं दिग्देशगुणगतिफलभेद शून्य अद्वैत एवं एकरस ब्रह्म ही परमार्थ रूप से सत्य है[१] तो वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैतावाद सिद्धान्त के अन्तर्गत मायासम्बन्ध से रहित शुद्ध ब्रह्म को ही अद्वैत तत्व के रूप में स्वीकार किया गया है।[२] शंकर अद्वैतवाद का परब्रह्म भी शुद्धाद्वैतवादी की तरह माया से रहित है। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार के अद्वैतवाद में जगत् के मिथ्यात्व प्रतिपादन के द्वारा पदार्थमय जगत् की शून्यता न सिद्ध करके जगत् के सम्बन्ध में उत्पन्न द्वैतबुद्धि का ही निराकरण किया गया है, उसी प्रकार शुद्धाद्वैतवादियों ने भी प्रपंचबुद्धि का ही मिथ्यात्व सिद्ध किया है। अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मं' एवं 'नेह नानास्ति किंचन' की भावना के द्वारा जिस प्रकार ब्रह्म एवं जगत् का अद्वैतत्व स्थापित किया गया है, उसी प्रकार शुद्धाद्वैतदर्शन के अन्तर्गत भी जगत् के सम्बन्ध में ब्रह्मात्मकता का भाव स्पष्ट रूप से मिलता है।[३] अद्वैतवादी एवं शुद्धाद्वैतवादी के दार्शनिक सिद्धान्तों के अन्तर्गत प्रतिविम्बवादसम्बन्धिनी समानता भी द्रष्टव्य है। अद्वैतवादी शंकराचार्य एवं शुद्धाद्वैतवादी वल्लभाचार्य दोनों ही प्रतिबिम्बवाद सिद्धान्त के अनुसर्ता प्रतीत होते हैं। प्रतिविम्बवाद के द्वारा अद्वैतवाद का समर्थन करते हुए, अद्वैती शंकराचार्य का कथन है कि जल में स्थित सूर्यप्रतिबिम्ब जल की वृद्धि होने पर बढ़ता है और जल के क्षीण होने पर क्षीणता को प्राप्त होता है, जल के कम्पित होने पर कम्पित होता है और जलभेद होने पर भिन्नता को प्राप्त होता है। इस प्रकार ब्रह्म परमार्थतः अविकृत एवं एक होते हुए भी देहादि उपाधि के अन्तर्भाव से वृद्धि, क्षय आदि को प्राप्त होता हुआ प्रतीत होता है।[४] इस प्रकार प्रतिबिम्बवाद सिद्धान्त के अनुसार जीव प्रतिबिम्ब रूप है जिस प्रकार प्रतिबिम्ब वृद्धिक्षयादि को प्राप्त होता है, उसी प्रकार जीव सुखदुःखादि का अनुभव करता है। परमेश्वर वस्तुतः सुखदुःखादि से असम्बद्ध है। अब शुद्धाद्वैतवादी वल्लभाचार्य को लीजिये। प्रतिबिम्बवादी वल्लभाचार्य ने सूर्य का दृष्टान्त न देकर चन्द्रमा के दृष्टान्त के द्वारा प्रतिबिम्बवाद का उल्लेख किया है। वे लिखते हैं– जिस प्रकार कि जल में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब पड़ने पर जलवर्ती कम्पादि धर्म मिथ्या है और उनकी चन्द्रमा से कोई सम्बन्ध नहीं होता उसी प्रकार अनात्मदेहादि का जन्म, बन्ध, दुःखादि रूप धर्म, जीव का ही है, ईश्वर का नहीं।[५] इस प्रकार अद्वैत वेदान्त की प्रतिक्रिया होने पर

* शोध छात्रा, दर्शनशास्त्र विभाग, पूर्वांचल विश्वविद्यालय, जौनपुर, उ०प्र०

भी वल्लभदर्शन एवं शांकरवेदान्त एवं वाल्लभवेदान्त के संबंध में ऊपर निर्दिष्ट किए गये समान स्थलों में, वल्लभाचार्य के सिद्धान्तों पर शांकरवेदान्त का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित कहा जा सकता है। अद्वैतवाद एवं वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैतदर्शन के अन्तर्गत समताओं की अपेक्षा विषमतायें अधिक हैं। शुद्धाद्वैतदर्शन के शांकरवेदान्त की प्रतिक्रिया से उत्पन्न होने के कारण शांकरवेदान्त एवं शुद्धाद्वैतवेदान्त के सिद्धान्तों में विषमताओं का होना स्वाभाविक ही है। यहाँ दोनों दर्शन पद्धतियों की विषमताओं का उल्लेख किया जायेगा।

अद्वैतवेदान्त एवं शुद्धाद्वैतवेदान्त, दोनों ही पद्धतियों के अनुसार सर्वोच्च तत्व ब्रह्म है, परन्तु दोनों की ब्रह्मसम्बन्धिनी विचारधारा में मूल अन्तर तो यह है कि अद्वैतवेदान्त के अनुसार ब्रह्म निर्गुण है और वल्लभवेदान्त के अनुसार सगुण-पुरुषोत्तम। अद्वैतवेदान्त में भी अपरब्रह्म के नाम से सगुण ब्रह्म की चर्चा मिलती है, परन्तु उसकी सत्ता केवल उपासनार्थ है। परमार्थ, दशा में पर अर्थात् निर्गुण ब्रह्म ही एक मात्र सत्य है। पर एवं अपर ब्रह्म का निरूपण चतुर्थ अध्याय के अन्तर्गत किया जा चुका है। शंकराचार्य और वल्लभाचार्य दोनों ही अद्वैती हैं, परन्तु एक का सिद्धान्त केवलाद्वैतवाद है और दूसरे का शुद्धाद्वैतवाद। केवलाद्वैतवादी शंकराचार्य के मतानुसार केवल अद्वैत ब्रह्म ही परमार्थ सत्य है, जगत् जो व्यावहारिक सत्ता की दृष्टि से सत् है, परमार्थ दृष्टि से मिथ्या है। शांकरवेदान्त के अन्तर्गत जगत् की सत्ता मायिक होने के कारण मिथ्या है, क्योंकि माया स्वयं मिथ्या है।[६] शुद्धाद्वैतवादी का सिद्धान्त शांकरवेदान्त के उक्त सिद्धान्त के विपरीत है। शंकराचार्य के केवलाद्वैतवादी पर आक्षेप करते हुए वल्लभाचार्य का कथन है कि ब्रह्म से अतिरिक्त माया की सत्ता स्वीकार करके मायिक जगत् की सत्ता सिद्ध करना शुद्ध अद्वैतवाद में बाधा उत्पन्न करता है।[७] वैसे, माया के दायित्व की कल्पना दोनों दर्शन पद्धतियों में समान ही हैं। शांकरवेदान्त में यदि माया को ईश्वर की शक्ति का रूप दिया गया है।[८] परन्तु दोनों ही माया शक्ति के पर्याप्त अन्तर है। शांकरवेदान्त की मायाशक्ति अविद्यात्मिका एवं मिथ्या है और वल्लभवेदान्त की माया मिथ्या न होकर पारमार्थिक सत्य है। वल्लभ दर्शन के विपरीत अद्वैतवेदान्त के माया का मिथ्यात्व अनिवर्चनीयता कहा गया है। परमार्थ, सत् एवं अलीक असत् से विलक्षण होने के कारण ही माया को अद्वैतवेदान्त में अनिवर्चनीय कहा गया है। शांकर वेदान्त और वल्लभदर्शन का यह भेद भी द्रष्टव्य है कि शांकरवेदान्तसम्मत मायिक जगत् मिथ्या है और इसके विपरीत वल्लभदर्शनपद्धति के अनुसार भगवान की माया शक्ति की सहायता से आविर्भूत जगत् मिथ्या न होकर सत्य है। कार्यरूप जगत् के ब्रह्म की ही आविर्भाव दशा का फल होने के कारण उसका सत्यत्व स्पष्ट ही है।

कार्यकारणवाद सिद्धान्त के सम्बन्ध में शांकरवेदान्त के अन्तर्गत जिस अधिष्ठानवाद[९] एवं अध्यारोपवाद[१०] का समर्थन किया है उसका भी वल्लभदर्शनपद्धति में विरोध है। शांकरवेदान्त के अनुरूप ब्रह्म अधिष्ठान है एवं जगत् आरोप का फल है। इसके विपरीत वल्लभदर्शन के अनुसार जीव एवं जगत् की सत्ता ब्रह्म का ही कार्यरूप है। इस प्रकार वल्लभदर्शन के अनुसार ब्रह्म जगत् का समवायिकरण है[११] और शंकर वेदान्त में मायाशक्ति के कारण ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण है एवं माया उपादानकारण है।[१२] इस प्रकार शांकरवेदान्त में माया शक्ति के कारण ब्रह्म जगत् का उपादान कारण और निमित्त कारण दोनों है। अद्वैतवेदान्त दर्शन के अन्तर्गत जगत् को ब्रह्म का विवर्त कहकर विवर्तवाद सिद्धान्त को स्वीकार किया है, परन्तु वल्लभदर्शन का सिद्धान्त विवर्तवाद न होकर अविकृत परिणामवाद का सिद्धान्त है।

शांकरवेदान्त एवं वल्लभदर्शन के जीव सम्बन्धी सिद्धान्त में भी पर्याप्त भेद है। वल्लभदर्शन के

अनुसार जीव और ब्रह्म में अंशांशिभाव है। अंशांशिभाव होने के कारण ही दोनों में अभेद है।[१३] इसके विपरीत शांकरवेदान्त के अनुसार जीव स्वरूपत: ब्रह्म ही है– शांकरवेदान्त में जीव की सत्ता अवद्योपाधिक होने के कारण मिथ्या है, परन्तु वल्लभ दर्शन में ऐसा नहीं है। वल्लभदर्शन के अनुसार जीव भी मिथ्या न होकर ब्रह्म के समान सत्य है।[१४] इसके अतिरिक्त वल्लभदर्शनानुगत जीव के विभुत्व का भी शांकरवेदान्त में विरोध है। शांकरवेदान्त के अनुरूप विभुत्व जीव में न होकर ब्रह्म में है। वल्लभ वेदान्त और शांकरवेदान्त के अन्तर्गत सबसे बड़ा भेद ज्ञान और भक्ति का है। शांकरवेदान्त का पक्ष 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' पर आधारित है। जिसके अनुसार जीव को स्वरूप ज्ञान के बिना मोक्ष की उपलब्धि नहीं होती। ज्ञान तो भक्ति का बाधक है।[१५] इसके अतिरिक्त वल्लभदर्शनपद्धति के अनुसार भक्ति का पर्यवसान ज्ञान में न होकर स्वयं ज्ञान को ही भक्ति का अंग बतलाया गया है।

सन्दर्भ सूची :

१. शा० भा०, छा० उ०– ८/१/१।
२. शुद्धाद्वैतमार्तण्ड, २८।
३. सेवाफल, श्लोक ३ पर हरिराज की टीका।
४. ब्र०सू०, शा० भा०– ३/२/२०।
५. सुबोधिनी, श्रीमद् भागवत– ३/७/११।
६. गौ०का० ४/५८।
७. अणुभाष्य १/१/६।
८. प्रस्थान रत्नाकर, पृ० १५९।
९. ब्र०सू०, शा० भा० १/१/१, २/१/२८। वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली–४६।
१०. ब्र०सू०, शा० भा० १/१/१।
११. देखिए– पुरुषोत्तमाचार्य की टीका– अणुभाष्य, पृ० ९०।
१२. वेदान्तसार, ११।
१३. अणुभाष्य, २/३/४३।
१४. Indian Philosophy, Vol. II, pp 757.
१५. भक्तिमार्तण्ड, पृ० १३७।

***

अद्वैतवाद एवं विशिष्टाद्वैतवाद का तुलनात्मक विवेचन

मनोज कुमार पाण्डेय*

शंकर और रामानुज दोनों वेदान्त के महान् विचारक हैं। इन दोनों में प्रत्येक के उत्तम गुण दूसरे के दोष हैं।[१] विचार करने पर, यों तो दोनों ही दर्शन–पद्धतियाँ अपने–अपने प्रकार एवं स्वरूप के अनुसार बड़े बलपूर्वक स्थापित की गई हैं, परन्तु फिर भी दोनों की कुछ–न–कुछ दुर्बलताएँ अवश्य देखने को मिलती हैं। कहना न होगा, कि शंकराचार्य का दर्शन यदि तर्कपुष्ट होने के कारण धार्मिक आकर्षण से दूर हैं तो रामानुजाचार्य द्वारा की गई परलोकसम्बन्धिनी सुन्दर कथाएँ विश्वास की भाजन नहीं बनतीं। इसके विपरीत शांकरवेदान्त की वह तर्कविद्या जो ईश्वर, जीव एवं जगत को पूर्ण ब्रह्म का रूप देती है, रामानुजदर्शन में किसी प्रकार ग्राह्य नहीं है। जैसा कि, रामानुजदर्शन की विवेचना के समय कहा जा चुका है, रामानुजाचार्य के अनुसार ईश्वर, जीव एवं जगत् की पृथक्–पृथक् सत्ता स्वीकार की गई है, जबकि अद्वैती शंकराचार्य ने परमार्थतः ईश्वर, जीव एवं जगत् की पृथक् सत्ता को न स्वीकार करके, एकमात्र अद्वैत ब्रह्म की ही सत्ता को सिद्ध किया है। इसके साथ ही साथ, यदि शांकरवेदान्त में बौद्धिक सन्तुष्टि के लिए तर्क की सुन्दर योजना की गई है, तो रामानुजीय दर्शन पद्धति में अपूर्व धार्मिक दृष्टिकोण के दर्शन होते हैं। इस प्रकार, यह निश्चित है कि दार्शनिक दृष्टि से अद्वैतवाद को जो प्रतिष्ठा मिली है, वह रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद को नहीं। धार्मिक दृष्टि से, निःसन्देह रामानुजदर्शन की देन बेजोड़ है, परन्तु धर्म जीवन का प्रथम चरण है और दर्शन द्वितीय। धर्म साधन है, साध्य तो दर्शन ही है। समालोचक घाटे ने शांकरवेदान्त के विशिष्ट आध्यात्मिक दृष्टिकोण को स्वीकार तो किया है, परन्तु साथ ही साथ उन्होंने उस पर लोकसामान्य के अनुपयोगी होने का आरोप भी लगाया है।[२] मेरे विचार से जैसा कि घाटे महोदय ने स्वयं स्वीकार किया है, शंकराचार्य द्वारा की गई उपास्य–सगुण ब्रह्म की प्रस्थापना शंकराचार्य के अध्यात्मदर्शन को पूर्णतया लोकसामान्य के लिए उपयोगी सिद्ध करती है। परन्तु शंकराचार्य प्रतिपादित उपास्य ईश्वर की आलोचना करते हुए घाटे साहब ने उसे मिथ्या एवं गौण कहा है।[३] घाटे महोदय का उक्त मत समीचीन नहीं कहा जा सकता, क्योंकि शांकर वेदान्त में मायोपहित ब्रह्म की ईश्वर संज्ञा है। अतः मायोपहित ब्रह्म अर्थात् ईश्वर में माया को ही मिथ्या कहा जा सकता है, न कि ब्रह्म को। जहाँ तक कि, ईश्वर को गौण सिद्ध करने की बात है, वह भी उचित नहीं है। इसका कारण यह है कि शांकरवेदान्त के अन्तर्गत ब्रह्म एवं ईश्वर–रूप से दो भिन्न तत्वों की स्थापना नहीं की गई है। यदि ऐसा हुआ होता तो अद्वैत सिद्धान्त की सिद्धि की सम्भव न होती। अतः ब्रह्म एवं ईश्वर के मूलतः एक होने के कारण प्रधानत्व एवं गौणत्व का प्रश्न नहीं उपस्थित होता। जब साधक, ब्रह्मस्वरूपता को प्राप्त हो जाता है, तो उसकी दृष्टि में, ईश्वर एवं ब्रह्म का स्वरूपभेद नहीं रहता। अतः ईश्वर के सम्बन्ध में घाटे महोदय की गौणत्व की कल्पना समीचीन नहीं प्रतीत होती।

प्रायः समालोचकों ने रामानुजदर्शन के धार्मिक दृष्टिकोण को अधिक महत्व दिया है।[४] परन्तु जैसा

* शोध छात्र, दर्शनशास्त्र विभाग, पूर्वांचल विश्वविद्यालय, जौनपुर, उ०प्र०

कि, कहा जा चुका है, धर्म जीवन का साधन मात्र है। दर्शन ही के द्वारा आत्मदर्शन सम्भव है। अब यहां शंकराचार्य एवं रामानुजदर्शन के ब्रह्म, जीव, जगत् एवं मुक्ति आदि सिद्धान्तों के सम्बन्ध में तुलनात्मक रीति से विचार किया जायेगा। इससे दोनों महान् दार्शनिकों का सैद्धान्तिक अन्तर स्वतः स्पष्ट हो जायेगा।

ब्रह्म

ब्रह्मतत्त्व की स्थापना शांकर एवं रामानुज-वेदान्त की उच्चतम निधि है, परन्तु दोनों दर्शनपद्धतियों की ब्रह्मसम्बन्धिनी विचारधारा में पर्याप्त अन्तर है। शांकरवेदान्त का ब्रह्म अज, अनिद्र, अस्वप्न, नामरूपरहित, सकृद्-विभात एवं सर्वज्ञ है।[५] शांकरवेदान्त में ब्रह्म की सर्वज्ञता का आशय उसकी ज्ञानरूपता से है,[६] न कि उसके सर्वज्ञातृत्व से। रामानुजाचार्य का ब्रह्म उपर्युक्त शांकरवेदान्त-प्रतिपादित ब्रह्म से बहुत-सी बातों में भिन्न है। जैसा कि, पहले भी कहा जा चुका है, रामानुजाचार्य द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म समस्त दोषों से रहित, असीम, अतिशय एवं असंख्य कल्याण गुणों से सम्पन्न पुरुषोत्तम का रूप है।[७] रामानुज के ब्रह्म की कल्याणगुणसम्पन्नता एवं पुरुषोत्तमाभिधानता[८] शांकरवेदान्त के ब्रह्म से विपरीत है। शांकरवेदान्त का ब्रह्म तो निर्गुण एवं निरभिधान है। यों, रामानुज भी ब्रह्म को निर्गुण मानते हैं, परन्तु उनकी निर्गुणता की परिभाषा शांकरवेदान्त की निर्गुणता की परिभाषा से भिन्न है। रामानुज का कथन है, कि ब्रह्म समस्त हेय गुणों से शून्य है, इसीलिए वह निर्गुण कहलाता है।[९]

रामानुज-वेदान्त-दर्शन में ब्रह्म को चिदचिद्विशेषणों से विशिष्ट कहना भी शांकरवेदान्त की ब्रह्मविषयिका विचारधारा से भिन्न है। जहाँ, शांकरवेदान्त का ब्रह्म समस्त भेदों से रहित होता हुआ अद्वैत सत्य रूप है, वहाँ रामानुजाचार्य का ब्रह्म सजातीय-विजातीय भेदों में शून्य होते हुए भी स्वगत भेद से शून्य नहीं है। इसके अतिरिक्त शांकरवेदान्त में मायोपाधिक ब्रह्म एवं ईश्वर में भेद नहीं है। रामानुज वेदान्त में जहाँ, सगुण ब्रह्म के अतिरिक्त जीव एवं जगत् की नित्यता स्वीकार की गई है, वहाँ शांकरवेदान्त में जीव एवं जगत् की नित्यता का निराकरण कर, इन्हें मिथ्या सिद्ध किया गया है। इस प्रकार जहाँ, अद्वैतवेदान्त में एकमात्र ब्रह्म को ही नित्य पदार्थ माना है, वहाँ रामानुजदर्शन में ब्रह्म, जीव एवं जगत् इन तीन नित्य पदार्थों को स्वीकार किया गया है। इस प्रकार शांकरवेदान्त एवं रामानुज वेदान्त के ब्रह्मसम्बन्धी विचार में पर्यान्त अन्तर है। परन्तु ब्रह्म का सत् चित् एवं आनन्द रूप दोनों दर्शनपद्धतियों में समान है।

जीव

शांकरवेदान्त के अन्तर्गत 'ब्रह्मैव जीवः स्वयम्', (विवेकचूडामणि, ३६५) कहकर जीव एवं ब्रह्म की अभिन्नता सिद्ध की गई है। जीव की जीवता तभी तक है, जब तक कि वह अविद्या से उपहित है। अविद्यानिवृत्ति होने पर जीव अपने वास्तविक स्वरूप, ब्रह्मत्व को प्राप्त होता है। इस प्रकार शांकरवेदान्त में जीव एवं ब्रह्म की अभिन्नता स्वयंसिद्ध है, परन्तु इसके विपरीत रामानुजवेदान्त में जीवन एवं ब्रह्म की भिन्नता स्पष्ट है। ब्रह्म एवं जीव के सम्बन्ध में विचारित शेष-शेषी भावसम्बन्ध, प्रकार-प्रकारी-भावसम्बन्ध, नियाम्य-नियामकभाव-सम्बन्ध एवं विशेषणविशेष्यभाव आदि सम्बन्ध दोनों की भिन्न स्थिति के ही सूचक हैं। इसके अतिरिक्त रामानुज-वेदान्त में ब्रह्म एवं जीव में अंशांशिभावसम्बन्ध माना गया है। अंशाशिभाव को स्पष्ट करते हुए रामानुजाचार्य ने कहा है कि जिस प्रकार अग्नि आदि-आदित्यादि के, गोत्वादि गवादि के और देव-मनुष्य आदि शरीर, देही के अंश हैं, उसी प्रकार जीव परमात्मा का अंश है।[१०] रामानुजदर्शन में अंशांशिभाव होने पर भी ब्रह्म एवं जीव में विशेषणविशेष्य सम्बन्ध होने के कारण दोनों में स्वाभाविक वैलक्षण्य भी मिलता है।[१२] इसके अतिरिक्त रामानुज-वेदान्त में जीव को ज्ञाता कहा गया है।[१३] जबकि शांकरवेदान्त में जीव 'ज्ञ' कहा गया है।[१४] अपने ज्ञत्व के कारण जीव स्वयं ज्योतिस्वरूप कहलाता है।

शांकरवेदान्त का जीव विभु एवं सर्वव्यापक है, परन्तु रामानुजाचार्य ने जीव के विभुत्व का निराकरण कर उसे अणु सिद्ध किया है।[१५] जीव के विभुत्व एवं अणुत्व के आधार पर ही, दोनों दर्शनपद्धतियों का यह भेद भी द्रष्टव्य है कि अद्वैतवेदान्त के विभु जीव के उत्क्रमण एवं आगमन का प्रश्न नहीं उपस्थित होता, जबकि विशिष्टाद्वैतवेदान्त के अनुसार– अणु जीव की उत्क्रान्ति, चन्द्रादिलोकगमन एवं ऊर्ध्व लोकों से आगमन की बात पूर्णतया सिद्ध होता है।[१६] इस प्रकार शांकरवेदान्त और रामानुज–वेदान्त की जीवसम्बन्धित विचारधारा में मौलिक भेद हैं।

जगत्

शांकरवेदान्त का जगन्मिथ्यात्व का सिद्धान्त प्रसिद्ध है। अद्वैतवेदान्त के व्याख्याताओं द्वारा मिथ्यात्व की व्याख्या सद्सद्विलक्षण की जाने पर भी, इस दर्शन पर आलोचकों द्वारा पलायनवादिता का अनुचित आरोप लगाया गया है। शांकरवेदान्त में जगत् की व्यावहारिक सत्ता निःसंकोच स्वीकार की गई है, परन्तु रामानुजदर्शन में जगत् को मूलतया सत्य स्वीकार किया गया है। दोनों दर्शन पद्धतियों की तुलना करते हुए घाटे महोदय लिखते हैं– According to one, the world as we percelve it, is unreal, only an appearence superimposed through nescience on the real entity, i.e. Brahman, Just like that of serpent superimposed on a rope. According to the other, the world, though inexplicable, is however, as real as the Brahman.[16]

घाटे साहब के उपर्युक्त कथन के अनुसार– रज्जु में आरोपित सर्प के समान अज्ञान के कारण ब्रह्म में आरोपित जगत् के शांकरवेदान्तगत स्वरूप से रामानुजाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्त का निरूपण करते समय कहा जा चुका है, रामानुज–वेदान्त द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म एवं जगत् का शरीर–शरीरी–सम्बन्ध भी शांकरवेदान्त में पूर्ण विपरीत है।

शांकरवेदान्त का, ब्रह्म एवं जगत् के सम्बन्ध में प्रचलित अधिष्ठानवाद का सिद्धान्त भी रामानुज–दर्शन पद्धति में ग्राह्य नहीं है। अद्वैतियों के अधिष्ठानवाद के अनुरूप ब्रह्म अधिष्ठान एवं जगत् अध्यास अविद्या रूप है। जबकि रामानुज–वेदान्त के अन्तर्गत अविद्यावाद या मायावाद सिद्धान्त को मूलतया अस्वीकार किया गया है। मायावाद सिद्धान्त के विरोध में रामानुज ने जो आक्षेप लगाये हैं, उनकी समीक्षा अभी आगे की जायेगी।

सन्दर्भ सूची :

१. Radhakrishnan : Indian Philosophy, p. 720
२. Ghate : The Vedanta, p. 20.
३. वही,
४. Radhakrishnan : Indian Philosophy, Vol- II, p. 720
५. गौ० का० ३।३६।
६. शा० भा०, गौ० का० ३।३६ ।
७. श्रीभाष्य, १।१।१ ।
८. पुरुषोत्तमोऽभिधीयते।– श्रीभाष्य, १।१।१ ।
९. निर्गुणवादश्च परस्य ब्रह्मणो हेयगुणसम्बन्धादुपपद्यते।– श्रीभाष्य, पृ० ८३।
१०. श्रीभाष्य, २।३।४५ ।
११. विशेषणविशेष्ययोरंशांशित्वेऽपि स्वभाववैलक्षण्यं दृश्यतै।– श्रीभाष्य, २।३।४५ ।
१२. श्रीभाष्य, २।३।१९ तथा देखिए– Radhakrishnan : Indian Philosophy, Vol- II, p. 692.
१३. ब्र.सू०, शा० भा० २।३।१० ।
१४. नायं सर्वगतः अपि त्वणुरेवायमात्मा।– श्रीभाष्य, २।३।२० ।
१५. श्रीभाष्य, २।३।२० ।
१६. Chate : The Vedanta. p. 173.

***

अग्निपुराण का काव्यशास्त्र

डॉ० राजकुमार उपाध्याय 'मणि'*

भारतीय वाङ्मय में पुराणों की महत्ता विश्वविख्यात् है। वेदों के उपरान्त पुराणों की भी प्राचीनता सिद्ध होती है। नि:संदेह आधुनिक इतिहास के रूप में प्राचीन भारत की सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक आख्यान पुराणों में ही परिवृंहित है। पुराण का अर्थ ही प्राचीन है। जो प्राचीन है वही इतिहास भी है। भारत का इतिहास राममय है अर्थात् 'रा' से रामायण और 'म' से महाभारत। राष्ट्र का मंगलगान करने वाले हमारे इतिहास के रूप में पुराण हैं। इसीलिए विष्णुधर्मोत्तर पुराण में इतिहास की स्पष्ट परिभाषा ही दे दी गयी है–

धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम्।
पूर्ववृत्तकथायुक्तमितिहास प्रचक्षते।।[१]

इतना ही नहीं, पुराण का विभिन्न अभिप्राय पुराणों में एक समान वर्णित नहीं मिलता है– यथा (वायुपुराण में)–

यस्मात् पुरा ह्यनतीदं पुराणं तेन कथ्यते।
निरुक्तिमस्य यो वेद सर्वपापैः प्रमुच्यते।।[२]

(पद्मपुराण में)– पुरा परम्परां वक्तिं पुराणं तेन वै स्मृतम्।।[३]
(ब्रह्माण्डपुराण में)– यस्मात् पुरा ह्यभूच्चै तत् पुराणं तेन तत् स्मृतम्।।[४]
(भागवतमहापुराण में)–सर्गोऽस्याथ विसर्गश्च वृती रक्षान्तराणि च।
वंशो वंशानुचरितं संस्था हेतुरयाश्रयः।।[५]

यद्यपि कोशकार अमरसिंह 'इतिहासः पुरावृत्तम्। पुराणं पुरावृत्तम्।'[६] कहकर आगे बढ़ जाते हैं किन्तु शेष परिभाषाएँ रह जाती हैं। ठीक इसी प्रकार पुराणों के लक्षणों की भाँति इनके भेदोपभेदों में भी गहरा मतभेद है। पुराणों के पाँच भेद कर दिये गये हैं– महापुराण, पुराण, उपपुराण, पुराणसंहिता और इतिहास। स्वयं महर्षि व्यास ने विष्णुपुराण में कुल १८ पुराणों का नाम क्रमागत रूपों में उद्धृत किया है–

ब्राह्मं पाद्मं वैष्णवं च शैव भागवतं तथा। तथान्यन्नारदीयं च मार्कण्डेयं च स्मृतम्।।
आग्नेयमष्टमं चैव भविष्यं नवमं तथा। दशमं ब्रह्मवैवर्त्तलिंङ्गमेकादशं स्मृतम्।।
वाराहं द्वादशं चैव स्कान्दं चात्र त्रयोदशम्। चतुर्दशं वामनकं कौर्मं पंचदशं तथा।।
मात्स्यं च गारुडं चैव ब्रह्माण्डश्च ततः परम्। महापुराणान्येतानि ह्यष्टादश महामुने।।[७]

---

* सम्पादक : समानुभूति शोध पत्रिका
असिस्टेंट प्रोफेसर- हिन्दी विभाग, जगद्गुरु रामभद्राचार्य विकलांग विश्वविद्यालय, चित्रकूट (उ०प्र०)

इनका आद्याक्षर रूप में भी नामोल्लेख देवी भागवतपुराण में प्राप्त होता है। यथा–

'मद्वय भद्वयं चैव ब्रत्रयं वचतुष्टयम्।

अनापलिङ्गं–कूस्कानि पुराणानि प्रचक्षते।।'[८]

अतः पुराणों या महापुराणों में अग्निपुराण का उल्लेख आठवें स्थान पर होने के कारण इसकी महत्ता एवं विद्यमानता की प्रामाणिकता सिद्ध हो जाती है। हाँ, इतना अवश्य है कि अग्निपुराण को कुछ विद्वान प्राचीन तो कुछ अर्वाचीन रचना मानते हैं।

अग्निपुराण निःसंदेह 'भारतीय शास्त्र–ज्ञान कोश' के रूप में आकर ग्रंथ है जिसमें अनेक विद्याओं एवं कलाओं का समुच्चय प्राप्त होता है। विविध ज्ञान–विज्ञान से समन्वित अग्निपुराण में कुल ३८२ अध्याय वर्गीकृत हैं।[९] इनमें कुल २१ अध्याय ३२७ से लेकर ३४७ तक काव्यशास्त्र एवं छन्द विवेचित हैं। यथा– क्रमशः छन्दसार वर्णन, छन्दःसार, छन्दःसार वर्णन, छन्दोजाति निरूपण, विषमवृत्त वर्णन, अर्द्धसमवृत्तनिरूपण, समवृत्त वर्णन, प्रस्तार निरूपण, शिक्षा निरूपण, काव्य आदि के लक्षण वर्णन, नाटक निरूपण, श्रृंगार आदि रसों के वर्णन, रीतिवर्णन, नृत्य आदि में उपयोगी–अंगकर्म का निरूपण, अभिनयादि निरूपण, शब्दालंकार वर्णन, अर्थालंकार वर्णन, शब्दार्थालंकार वर्णन, काव्यगुण विवेक वर्णन, काव्यदोष विवेक वर्णन, एकाक्षाराभिधान वर्णन।'[१०] (उपर्युक्त– विषयसूची)। इस अध्याय सूची में भी कुल ग्यारह अध्याय काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों से समन्वित हैं जिनका वर्णन कुल ३६२ (तीन सौ बासठ) श्लोकों में किया गया है।

भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा में अग्निपुराण का अन्यतम स्थान है। यद्यपि प्रारम्भिककाल में काव्यशास्त्र को साहित्यशास्त्र, अलंकार शास्त्र और रीतिशास्त्र आदि अभिधानों से भी जाना गया। अग्निपुराण में इस नामकरण का कारण स्पष्ट नहीं होता, परन्तु भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा में स्थापित छः सिद्धान्तों– रससिद्धान्त (प्रवर्त्तक– आचार्य भरतमुनि), अलंकार सिद्धान्त (प्रवर्त्तक– आचार्य भामह), रीतिसिद्धान्त (प्रवर्त्तक– आचार्य वामन), ध्वनिसिद्धान्त (प्रवर्त्तक आचार्य आनन्दवर्द्धन), वक्रोक्ति सिद्धान्त (प्रवर्त्तक– आचार्य कुन्तक) और औचित्य सिद्धान्त (प्रवर्त्तक– आचार्य क्षेमेन्द्र) में रस, अलंकार तथा रीति सिद्धान्तों का विषय मेल खाता है जबकि तीन अन्य का नहीं।

सर्वप्रथम अग्निपुराणकार ने काव्य की परिभाषा देते हुए लिखा है कि 'संक्षेप में वक्ता के अभिप्रेत अर्थ से युक्त पद–समूह को वाक्य कहते हैं, जिसमें अलंकार भासित हो रहा हो, ऐसे गुणों से युक्त तथा दोषों से रहित वाक्य को काव्य कहते हैं'–

संक्षेपाद् वाक्यमिष्टार्थं व्यवच्छिन्ना पदावली।

काव्यं स्फुरदलंकारं गुणवद् दोषवर्जितम्।।[११]

काव्य के लक्षण एवं परिभाषा की अजस्र श्रृंखला विगत दो सहस्राब्दियों से अधुनापर्यन्त अपने–अपने ढंग से प्रस्तुत की जाती रही है। इस काव्य लक्षण के साथ काव्य हेतु के संदर्भ में भी अग्निपुराण में– शक्ति, व्युत्पत्ति और विवेक को काव्य का कारण माना गया है। जैसे–

नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा।

कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र च दुर्लभा।।

व्युत्पत्तिर्दुर्लभा तत्र विवेकस्तत्र दुर्लभः।

सर्वशास्त्रमविद्भिर्मग्यमाणं न सिद्धयति।।[१२]

काव्यहेतु के समान अग्निपुराण में काव्यभेद भी तीन प्राप्त होते हैं– गद्य, पद्य एवं मिश्र। 'काव्यादि

लक्षणम्' ३३७ अध्याय में लिखा गया है–

'गद्यं पद्यञ्च मिश्रञ्च काव्यादि त्रिविधं स्मृतम्।

अपादः पदसन्तानो गद्यं तदपि गद्यते।'[१३]

इस गद्य के भी तीन भेद हैं– चूर्णक, उत्कलिका तथा वृत्तसंधि। पुनः शैली के आधार पर गद्य के पाँच भेद किये गये हैं–

(१) आख्यायिका (२) कथा (३) खण्डकथा (४) परिकथा (५) कथानिका।

आख्यायिका कथा खण्डकथा परिकथा तथा।

कथानिकेति मन्यते गद्यकाव्यं च पञ्चधा।।[१४]

आगे गद्य की भाँति पद्य के भी सात भेद किये गये हैं–

महाकाव्यं कलापञ्च पर्य्यावन्धो विशेषकम्।

कुलकं मुक्तकं कोष इतिपद्यकुटुम्बकम्।।[१५]

अर्थात् पद्य परिवार के अन्तर्गत– महाकाव्य, कलाप, पर्याबन्ध विशेषक, कुलक, मुक्तक और कोश माने गये हैं।

इसी प्रकार मिश्र काव्य के अन्तर्गत चम्पू एवं प्रकीर्णक को स्थान दिया गया है–

'मिश्रं वपुरिति ख्यातं प्रकीर्णमिति च द्विधा।'[१६]

आचार्य भरतमुनि के नाट्य विषयक सिद्धान्तों को लगभग तीन अध्यायों में वर्णन प्राप्त कर सकते हैं– नाटक निरूपण, नृत्यादावङ्कर्म तथा अभिनयादि निरूपण। इसमें रूपकों के कुल सत्ताईस भेद बताये गये हैं। आगे रस, स्थायीभाव एवं संचारी भाव को क्रमशः आठ, आठ एवं बीस वर्गों में वर्णित किया गया है जबकि अगले अध्याय ३३९ में रस की उत्पत्ति एवं विभिन्न भेद ३४२वें अध्याय में नवरसों का विवेचन किया गया है– श्रृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्‌भुत तथा शान्त रस।

श्रृंगारहास्यकरुण रौद्रवीर भयानकाः।

वीभत्साद्‌भुतशान्ताख्या स्वभावाच्चतुरो रसाः।।[१७]

किन्तु केवल आठ स्थायी भेदों का चित्रण मिलता है– रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा तथा विस्मय। इतना ही नहीं, भावों की संख्या पाँच मानी गयी है– स्थायी भाव, सात्विक भाव, व्यभिचारी भाव, विभाव तथा अनुभाव।

अग्निपुराणकार ने 'श्रृंगारादि रस निरूपण' अध्याय के अन्तर्गत 'बुद्धयारम्भ' के तीन भेदों में– रीति, वृत्ति व प्रवृत्ति' की चर्चा किये जाने से रीति सम्प्रदाय विषयक तथ्य प्रतिभासित होते हैं– वाग्विद्या सम्प्रति ज्ञानेरीतिः साऽपि चतुर्विद्या।[१८] (वाक्‌विद्या का सम्यक् ज्ञान कराने की शैली रीति है।) अतः इसमें केवल चार रीतियाँ हैं– पाञ्चाली, गौड़ी, वैदर्भी तथा लाटी।

रीति के भेदों के उपरान्त ३४२वें अध्याय में अलंकार तथा उसके तीन भेद और शब्दालंकार वर्णित हैं। इसमें अलंकार को काव्य शोभाकारक बताया गया है– 'काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते।' अग्निपुराण में कुल तीन अलंकार भेद वर्णित हैं, यथा– शब्दालंकार, अर्थालंकार तथा शब्दार्थालंकार। शब्दालंकार के नौ भेद–छाया, मुद्रा, उचित, युक्ति, गुम्फना, वाकोवाक्य, अनुप्रास, चित्र तथा दुष्कर। पुनः इसके ३४ उपभेद व ३८ गौण भेद किये गये हैं।

अर्थालंकार के आठ भेद– 'स्वरूप, सादृश्य, उत्प्रेक्षा, अतिशय, विभावना, विरोध, हेतु तथा सम'

हैं। पुनः इनके अनेक भेदोपभेद चित्रित हैं। शब्दार्थालंकार के छः भेद दिये गये हैं– प्रशस्ति, कान्ति, औचित्य, संक्षेप, भावदर्थता, अभिव्यक्ति। यह औचित्य क्षेमेन्द्र के काव्यसिद्धान्त का प्रस्थान बिन्दु है। रीतिसिद्धान्त का गुण भेद एवं लक्षण अग्निपुराण में मिलता है– सामान्य तथा विशेष। सामान्य में शब्द, अर्थ तथा शब्दार्थ गुण शब्द के सातभेद, अर्थ के छः भेद तथा शब्दार्थ के भी छः भेद हैं। इसी प्रकार काव्यदोष वक्तृ, वाचक और वाच्य के आधार पर सातभेद किये गये हैं।

अग्निपुराण के उपर्युक्त काव्यशास्त्रीय पक्ष के साथ-साथ छन्दशास्त्र पर भी लेखन हुआ है। अध्याय ३२८ से ३३५ तक छन्द सम्बन्धी वर्णन प्राप्त होते हैं। वैदिक छन्द सात बताये गये हैं– गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप, वृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप, जगति। इन्हें ही लौकिक छन्द के रूप में भी स्वीकार किया गया है। इनके अक्षरों के भेद-विस्तार के आधार पर अनेक सम, विषम, अर्ध सम एवं अर्द्धविषम छन्दों की निर्मिति की गयी है।

निःसंदेह 'अग्निपुराण' भारतीय ज्ञानकाण्ड का वह शास्त्रीयविश्वकोशीय ग्रंथ है जिसमें जीवन-जगत के समस्त क्रिया-कलापों के विधान एवं उनके स्वरूप का यत्किञ्चित् सारवत् विवृत्त है। इसमें ज्ञान-विज्ञान, साहित्य-संस्कृति, दर्शन, कला और इतिहास-पुराण के भी अन्यान्य सूत्र चित्रित हैं।

सन्दर्भ सूची :

१. महर्षि व्यास- विष्णुधर्मोत्तर पुराण, ३-१५-१
२. महर्षि व्यास- वायुपुराण।
३. महर्षि व्यास- पद्मपुराण।
४. महर्षि व्यास- ब्रह्माण्डपुराण।
५. महर्षि व्यास- भागवतमहापुराण।
६. अमरसिंह- अमरकोश।
७. महर्षि व्यास- विष्णु पुराण।
८. महर्षि व्यास- देवी भागवतपुराण।
९. महर्षि व्यास- अग्निपुराण- व्याख्याकार : पं० आचार्य शिवप्रसाद द्विवेदी।
१०. वही, विषयसूची।
११. महर्षि व्यास- अग्निपुराण, अध्याय- ३३७, श्लोक- ६-७।
१२. वही, अध्याय-३३७, श्लोक-३-४।
१३. वही ।
१४. वही।
१५. वही, श्लोक- २३-२४।
१६. वही।
१७. वही, अध्याय- ३३९, श्लोक- ८-९।
१८. वही, अध्याय- ३४०, श्लोक-१

***